ओ३म्

आर्य्यमन्तव्यप्रकाश

द्वितीयभाग

जिसको

श्रीयुत पण्डित आर्यमुनि प्रोफ़ेसर
संस्कृत फ़िलासफ़ी डी. ए. वी. कालिज लाहौर

ने

निर्माण किया।

ऐंग्लोसंस्कृत यन्त्रालय लाहौर में मुद्रित
कराके प्रकाशित किया।

सम्वत् १९६० सन् १९०३ ई०

प्रथमवारम् १०००] [मूल्य १)

॥ विषय सूचीपत्रम् ॥

ओ३म्

॥ भूमिका ॥

आर्य्यमन्तव्यप्रकाश द्वितीय भाग

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौब्रह्मणाहुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ अथर्व०
गी० ४। २४

इस मंत्रमें इस अर्थका प्रकाश कियागया है कि (अर्पणं) जिस से हवि अग्निमें अर्पण कियाजाता है वह स्रुगादि वस्तु ब्रह्म सम्बन्धि हों, और (हविः) हवनीय द्रव्य ब्रह्म सम्बन्धि हों, और अग्नि ब्रह्म सम्बन्धि हो, और ब्रह्म साधन द्वारा हवन कियाजाय, इस प्रकार ब्रह्म साधन द्वारा हवन करने से (ब्रह्मकर्मसमाधिना) नाम ब्रह्म सम्बन्धि कर्मों में निष्ठा रखने वाले पुरुष को परब्रह्म की प्राप्ति होती है।

"ब्रह्मार्पणम्" इत्यादि वाक्यों में ब्रह्म शब्द वेद का वाचक है, यह अर्थ इसी अध्याय के श्लो० ३२ में सिद्ध है कि ब्रह्म नाम इस यज्ञ विषय में वेद का है। एवं वेद वाची ब्रह्म शब्द मानने से आशय यह निकलता है कि जो लोग वैदिक अर्पण से, वैदिक हवि से, वैदिक अग्निमें यज्ञ करते हैं उन्हीं को ब्रह्मप्राप्ति होती है।

इस प्रकार यहां वेदों का महत्व वर्णन कियागया है।

वस्तुतः निस्सन्देह बात भी यह है कि जबसे लोग वैदिक कर्म को भूलगए तबसे परब्रह्म प्राप्ति तो क्या? अपितु (अपरब्रह्म) वेद प्राप्ति भी उनको नाम मात्र ही रहगई। इसी कारण वेदार्थ में यहांतक विप्रतिपत्ति बढ़गई कि कोई नित्यशुद्धबुद्धिमुक्तस्वभाव सच्चिदानन्दादिलक्षणयुक्त ईश्वर के परापररूप से दो भेद करता है अर्थात् एक छोटा ईश्वर है दूसरा बड़ा ईश्वर है। जैसा कि शङ्करमत में हिरण्यगर्भ और परब्रह्म का भेद है, कोई सर्व ब्रह्मवादी बनकर चिदाचिद् कीट पतंग ईंट आदि वस्तुओं को भी ब्रह्म बना बैठता है, जैसा कि शङ्करमत में पूर्वोक्त गीता श्लोक के यह अर्थ कियेजाते हैं कि यह सब वस्तुएं ब्रह्म हैं। इस अभिप्राय से अर्पणादिकों को ब्रह्म कथन किया है, इस स्थल में स्वामी शङ्कराचार्य "यथा सुक्तिकायांरजिताभावं पश्यति तद्दुच्यते" अर्थ—जैसे सीपी में ज्ञानी चांदी के अभाव को देखता है इस प्रकार सब संसार के अभाव को ज्ञानी ब्रह्म में देखता है, अर्थात् ब्रह्मही ब्रह्म देखता है अन्य कुछ नहीं, पर इस अर्थ का स्वीकार सनातनियों के और आचार्य्य नहीं करते। रामानुजादि उक्त श्लोकके यह अर्थ करते हैं कि अर्पणादिकों में ब्रह्मबुद्धि करना, वास्तव में अर्पणादि ब्रह्म नहीं, यह अर्थ श्लोकके आशय से मिलता है कि यहां सब वस्तुओं का ब्रह्मविधान का तात्पर्य्य नहीं, क्योंकि यह यज्ञ का प्रकरण है, इस प्रकरण में ब्रह्म सम्बन्धि वस्तुओं का वर्णन है, इससे आगे के श्लोक में यह लिखा है कि "दैवमेवापरेयज्ञंयोगिनः पर्युपासते" जिसके अर्थ यह है कि योगी लोग परमात्मा की उपासनारूपी यज्ञ को करते हैं, इस श्लोक में स्वामी

शङ्कराचार्य्य भी इस अर्थ को मानते हैं कि (योगी) कर्मी लोग उपासनारूपी यज्ञ को करते हैं। यदि पूर्व श्लोक का सब वस्तुओं को ब्रह्म बोधन का तात्पर्य्य होता तो फिर योगी कौन और किस की उपासना करते?

उक्त ब्रह्मार्पणं के अर्थ में जब शङ्कराचार्य्य और रामानुजादि औपनिषद्दर्शन के द्रष्टा विप्रतिपन्न हैं तो फिर आधुनिक सनातनियों की क्या कथा जो विचारे सहस्रशीर्षारूपी सागर में निराकार साकार की विप्रतिपत्तिरूप लहरों में गोते खारहे हैं।

एवंविधविप्रतिपत्तिग्रस्तवादियों को देखकर हमने वेदार्थ संग्रह करना आवश्यक समझा इसलिये "सहस्रशीर्षादि" मंत्रों को उपक्रम में रखकर इस ग्रन्थ का प्रारम्भ कियागया है, उक्त मंत्रों में यह दिखलाया है कि इन मंत्रों का तात्पर्य्य साकार बोधन में नहीं, और इसमें पूर्वोक्तवादियों के अभिमतअर्थों से भी सत्यार्थ की सिद्धि कीगई है। यह ग्रंथ श्री १०८ स्वामी दयनन्द सरस्वती जी के बावन मन्तव्यों पर क्रम से लिखा गया है।

इस क्रम के अवलम्बन करने का कारण यह है कि आजकल जो लोग श्रीस्वामीजी और स्वामीजी के लेखों पर आक्षेप करते हैं वह केवल स्वामीजी और स्वामीजी के लेखों को ही उद्देश्य रखते हैं, हम उनको स्मरण दिलाते हैं कि ऐसे आक्षेपों से आर्य्य धर्म की क्षति नहीं होती। आर्य्यधर्म वह है जो बावन मन्तव्यों में लिखा है, और स्वामीजी ने उक्त मन्तव्यों को उपसंहार में इसी अभिप्राय से लिखा है कि वैदिक मन्तव्य इतर पन्थों के

समान किसी मनुष्य की पूजासे पन्थ न बन जायं, इस अभिप्राय से अपने सम्पूर्ण लेखों को उपसंहार में बावन मन्तव्य लिखकर शोधन करदिया। हमने इस ग्रंथमें आक्षेपता वादियों को ललकार के लिखा है कि आओ उक्त आर्य्य मन्तव्यों पर आक्षेप करो हम समाधान करते हैं।

अपूर्वता के हेतु इस ग्रंथ में निम्नलिखित हैं-

(१)-पुरुषसूक्त पर जो भाष्य कियागया है उसमें वेद की सङ्गति द्वारा वेदार्थ का संग्रह कियागया है और वादी विरोध से वादियों के मत का खण्डन किया है।

(२)-उपनिषदों से, व्याससूत्रों से, और वादियों के मतों से, मुक्तिमें पुनरावृत्ति सिद्ध कीगई है।

(३)-श्राद्ध और नियोगादि विषयों में सब मंत्र लिखकर उनपर विस्तार पूर्वक पूर्वोत्तर पक्षद्वारा विचार कियागया है जिस से इन विषयों में कई एक स्थलों में लेख बहुत विस्तृत हैं।

(४)-सनातनधर्म के मण्डन कर्ताओं में से मुख्ययोद्धा पण्डित ज्वालाप्रसादमिश्र और पण्डित भीमसेन के लेखों की समीक्षाओं से यह ग्रंथ सज्जीकृत है तत्रापि पं० भीमसेन के आर्य्यसमाज छोड़ने के कारण और आर्य्यसमाज न छोड़ने की प्रतिज्ञाएं सङ्गति बांधकर अधिकतया सूचित कीगई हैं।

(५)-यमयमी की कथा जो वेदाशय न समझने से वैदिक लोगों को भयप्रदा प्रतीत होती है और इतर धर्मानुयायी ईसाई महम्मदी

आदि लोग जिसपर अनन्त आक्षेप करते हैं। उसका समाधान सम्यग् रीति से इस ग्रंथमें कियागया है।

(६)–आर्य्यसमाज के आविर्भावकर्त्ता श्री १०८ स्वामी दयानन्द सरस्वती जी को इस ग्रंथ का समर्पण कियागया है जिनकी शास्त्रीय दिव्य दृष्टि से ग्रंथकर्त्ता का आविघ्नक दोषदूरद्वारा इस ग्रंथ का निर्माण हुआ।

उक्त स्वामीजीके यथावस्थित गुण वर्णन में महर्षिदयानन्दाष्टक लिखा है जो संस्कृतश्लोक और भाषा छन्दोग्रन्थन में है, इत्यादि अपूर्वता के हेतु अनेक हैं, जिनको पाठक लोग पढ़कर जान सक्ते हैं। अतएव हम उक्त षट्क परही समाप्ति करते हैं।

अन्तिम विनय यह है कि दक्षिण हैदराबाद में एक मास तक रहने के कारण इस ग्रंथ के शोधन का भार प्रायः ऐसे पुरुषों पर रहा है जो इसके योग्य न थे, इस कारण कईएक स्थलों में मात्रा और वर्णों की अशुद्धियें पाई जाती हैं, उनको पाठकलोग क्षमा करें। और वह शुद्धि पत्र में सुधार दी गई हैं॥ ओ३म् शमिति॥

आर्य्यमुनिः

समर्पण

यह ग्रन्थ श्री १०८ स्वामीदयानन्दसरस्वती जीको समर्पण कियागया।

उक्तमहर्षि के गुणानुवाद में यह अष्टक है

॥ महर्षिदयानन्दाष्टकम् ॥

वेदाऽभ्यासपरायणोमुनिवरोवेदैकमार्गेरतः।
नाम्नायस्यदयाविभातिनिखिलातत्रैवयोमोदते॥
ये नाम्नायपयोनिधेर्मथनतः सत्यंपरंदर्शितम्।
लब्धं तत्पदपद्मयुग्ममनघं पुण्यैरनन्तैर्मया॥

भाषाछन्द—सवैया

(१)—उत्तम पुरुष भये जग जो वह धर्मके हेतु धरें जग देहा। धन धाम सभी कुर्बान करें प्रमदा सुत मीतरु कांचन गेहा। सन्मार्ग से पग नाहि टरे उनकी गति है भव भीतर एहा। एक रहे दृढ़ता जगमें सब साज समाज यह होवत खेहा॥
(२)—इनके अवतार भये सगरे जगदीश नहीं जन्मा जगमाहीं। सुखराशी अनाशी सदा शिव जो वह मानवरूपधरे कबी नाहीं। मायिक होय

वही जन्मे यह अज्ञ अलीक कहैंभवमाहीं । यह मत है सब वेदनका वह भाष रहे निज बैननमाहीं॥

(३)—धन्यभई उनकी जननी जिन भारत आरत के दुखटारे । रविज्ञान प्रकाश किया जगमें तब अंध निशाके मिटे सब तारे। दिनरात जगाय रहे हमको दुःखनाशक रूप पिता जो हमारे ।शोक यही हमकोअब है जब नींद खुली तबआप पधारे

(४)—वैदिक भाष्य किया जिनने जिनने सब भेदिक भेद मिटाए । वेद ध्वजा करमें करके जिनने सब वैर विरोध नसाए। वैदिक धर्म प्रसिद्ध किया मत वाद जिते सब दूर हटाए। डूबत हिन्द जहाज़ पिखा अब जासु कृपा कर पार कराए ॥

(५)—जाप दिया जगदीश जिन्हें इक और सभी जप धूर मिलाए । धूरतधर्म धरातलपै जिनने सब ज्ञान की आग जलाए। ज्ञान प्रदीप प्रकाश किया उन गप्प महातम मार उड़ाए ।डूबत हिन्द जहाज़ पिखा अब जासु कृपाकर पार कराए ॥

(६)–सो शुभ स्वामी दयानन्द जी जिनने यह आर्य्य धर्म प्रचारा । भारतखण्ड के भेदन को जिन पाठ किया सब तत्व बिचारा । वैदिक पंथ पै पांव धरा उन तीक्ष्णधर्म असी की जो धारा । ऐसे ऋषिवर को सज्जनों कर जोड़ दोऊ अब बंद हमारा ॥

(७)–ब्रत वेद धरा प्रथमे जिसने पुन भारतधर्म का कीन सुधारा । धन धाम तजे जिसने सगरे और तजे जिसने जगमें सुतदारा । दुःख आप सहे सिर पे उसने पर भारत आरत का दुःख टारा । ऐसे ऋषिवर को सज्जनों कर जोड़ दोऊ अब बंद हमारा ॥

(८)–वेद उद्धार किया जिनने और गप्पमहात्म मार बिदारा । आप मरे न टरे सत पंथ से दीनन का जिन दुःख निवारा । उन आन उद्धार किया हमरा जो गिरें अब भी तो नहीं कोई चारा । ऐसे ऋषिवर को सज्जनों कर जोड़ दोऊ अब बंद हमारा ॥

ओ३म

आर्य्यमन्तव्यप्रकाश, वेदार्थसंग्रहोनाम सप्तमः समुल्लासः प्रारभ्यते ।

इस समुल्लास में जो २ मंत्र विवादास्पद हैं उन सबका भापार्थ किया जायगा। इस वेदार्थ संग्रह से प्राचीनार्य्यों के मन्तव्य स्पष्ट रीति से ज्ञात होंगे कि क्या थे, और आज कल के आधुनिक सनातन नामधारी वेद मंत्रों का अनर्थ करके कैसे २ वेदार्थ को विगाड़ रहे हैं यह भाव इस समुल्लास में दिखलाया जायगा। प्रथम—ईश्वर विषयक मन्तव्य में जो २ मंत्र सनातनी उद्धृत करते हैं उनका अर्थ यहां प्रकाश किया जाता है॥

सहस्रशीर्षा पुरुषः, सहस्राक्षः सहस्रपात्। सभूमिँसर्वं तस्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ यजु० अ० ३१ मं० १

पं० अम्बिकादत्त व्यास मूर्तिपूजा पृ० २० में अपने साकारेश्वरबाद के मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए ईश्वर के सहस्रों शिर, आंखे पांव, कथन करते हैं। मूर्ति रहस्य में यह मंत्र ईश्वर की मूर्ति सिद्ध करने के लिये उद्धृत किया गया है, आज कल कौन सनातन धर्म्मी है जो उक्त मंत्र का ईश्वर के सहस्र शिर बनाने में नहीं उपयोग करता, अस्तु पर यहां हम ने यह दिखलाना है कि हमारे आधुनिक सनातन नामधारी भाई सनातन पथ से कहां तक गिरे हैं

सायण महीधर उव्वट यह सब भाष्यकार उक्त मंत्र से ईश्वर का सर्वान्तरात्मत्व और ईश्वर की महान् महिमा सिद्ध करते हैं॥ "अत्र सर्वप्राणीनां शिरांसि तद्देहान्तः पातित्वा त्वदीया न्येवेति सहस्रशीर्षत्वम्"॥ यहां सब प्राणियों के शिरादि अवयव उस परमात्मा के भीतर होने से उसका नाम "सहस्र शीर्षा" है यह अर्थ सामवेद में सायणाचार्य्य ने इस मंत्र के किये हैं एवं उव्वट और महीधर ने भी, "सभूमिंसर्वतस्पृत्वाऽत्यतिष्ठ द्दशाङ्गुलम्" के अर्थ सर्व व्यापक के किये हैं, फिर जो लोग "सहस्रशीर्षा" के अर्थ सहस्र शिर वाले मूर्त्तिमान ब्रह्म के करते हैं उनके मत में वह सर्व व्यापक कैसे हो सकता है? क्योंकि मूर्त्ति पदार्थ सर्व व्यापक कदापि नहीं हो सकता, और "एतावानस्यमहिमातोऽज्यायांश्चपूरुषः" यह तीसरा मंत्र पौराणिकों के सहस्र शिरों वाले अर्थ को सर्वथा काट देता है, इसके अर्थ यह हैं कि यह जो कथन किया गया है यह ईश्वर की महिमा है और पुरुष इस से बड़ा है। इस से सार यह निकला कि सहस्र शिरादि अवयव ईश्वर की विभूति कहे जा सकते हैं स्वरूप नहीं। यदि यह कहें कि विभूति स्वरूप से भिन्न नहीं, यह सर्वथा असङ्गत है, अन्यथा गीतादि पुस्तकों में विभूति रूप से निरूपित पृथिव्यादि जड़ वस्तु समूह भी ईश्वर ही मानना पड़ेगा। इस प्रकार सहस्र शिरादि अवयव ईश्वर के मूर्तिरूप में उपयोग नहीं रखते, किन्तु सहस्र शिरादि अवयव धारी पुरुष ईश्वराधार में हैं इस अभिप्राय से "सहस्रशीर्षा" है। उक्त मंत्र के इसी अभिप्राय को वेद भाष्यों

चार्य्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने स्व निर्म्मित भाष्य में प्रकाश किया है जिससे सब आधुनिक सनातन धर्म्माभिमानी घबराते हैं। मंत्रार्थ यह है ॥

भाषार्थ-

(सहस्रशीर्षा) इस मंत्र में पुरुष शब्द विशेष्य और अन्य सब पद उसके विशेषण हैं, पुरुष उसको कहते हैं कि जो इस सब जगत् में पूर्ण हो रहा है अर्थात् जिसने अपनी व्यापकता से इस जगत् को पूर्ण कर रखा है, पुर कहते हैं ब्रह्माण्ड और शरीर को, उस में जो सर्वत्र व्याप्त और जो जीव के भीतर भी व्यापक अर्थात् अंतर्यामी है वह पुरुष है। इस अर्थ में निरुक्त आदिका प्रमाण संस्कृत भाष्य में लिखा है सो देख लेना। सहस्र नाम है सम्पूर्ण जगत् का, और असंख्यात का भी नाम है, सो जिसके बीच में सब जगत् के असंख्यात शिर आंख और पग ठहर रहे हैं उसको सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष और सहस्रपात् भी कहते हैं क्योंकि वह अनंत है, जैसे आकाश के बीच में सब पदार्थ रहते और आकाश सबसे अलग रहता है अर्थात् किसी के साथ बंधता नही है इसी प्रकार परमेश्वर को भी जानो। (सभूमिꣳसर्वतस्पृत्वा०) सो पुरुष सब जगह से पूर्ण होके पृथिवी को तथा सब लोकों को धारण कर रहा है (अत्यतिष्ठद०) दशांगुल शब्द ब्रह्माण्ड और हृदय का वाची है अंगुलि शब्द अंग का अवयव वाची है, पांच स्थूल भूत और पांच सूक्ष्म ये दोनों मिलके जगत् के दश अवयव होते हैं, तथा पांच प्राण और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ये चार और दशवां जीव, और शरीर में जो हृदय देश है सो भी दश अंगुल

के प्रमाण से लिया जाता है जो इन तीनों में व्यापक होके इनके चारों ओर भी परिपूर्ण हो रहा है इससे वह पुरुष कहाता है, क्योंकि जो उस दशांगुल स्थान का भी उल्लंघन करके सर्वत्र स्थिर है वही सब जगत् का बनाने वाला है ॥

पुरुषएवेदँसर्वंयद्भूतंयच्चभाव्यम् । उतामृतत्वस्येशानोयदन्नेनातिरोहति ॥ २ ॥

भाषार्थ—

(पुरुष एवे०) जो पूर्वोक्त विशेषण सहित पुरुष अर्थात् परमेश्वर है सो जो जगत् उत्पन्न हुआ था जो होगा और जो इस समय में है इस तीन प्रकार के जगत् को वही रचता है उससे भिन्न दूसरा कोई जगत् का रचने वाला नहीं है, क्योंकि वह (ईशान) अर्थात् सर्वशक्तिमान् है (अमृत) जो मोक्ष है उसका देने वाला एक वही है दूसरा कोई नहीं, सो परमेश्वर (अन्न) अर्थात् पृथिव्यादि जगत् के साथ व्यापक होके स्थित है और इससे अलग भी है क्योंकि उस में जन्म आदि व्यवहार नहीं हैं और अपनी सामर्थ्य से सब जगत् को उत्पन्न भी करता है और आप कभी जन्म नहीं लेता ॥

"एतावानस्यमहिमातोज्यायांश्चपूरुषः । पादोऽस्यविश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतंदिवि" ॥ ३ ॥

भाषार्थ—

(एतावानस्य०) तीनों काल में जितना संसार है सब इस पुरुष की ही महिमा है, प्र०—जब उसकी महिमा का परिमाण है तो अंत

भी होगा ? उ०-(अतोज्यायांश्च पूरुषः) उस पुरुष की अनंत महिमा है क्योंकि (पादोऽस्य विश्वाभूतानि) जो यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित हो रहा है सो इस पुरुष के एक देश में वसता है (त्रिपादस्यामृतंदिवि) और जो प्रकाश गुण वाला जगत् है सो उससे तिगुना है, तथा मोक्ष सुख भी उसी ज्ञान स्वरूप प्रकाश में है, और वह पुरुष सब प्रकाश का भी प्रकाश करने वाला है ॥

इस प्रकार ईश्वर के सामर्थ्य का वर्णन उक्त मंत्रों में स्पष्ट है जिसको विगाड़ कर मूर्त्तिरहस्य पृ० ९ में ज्वाला प्रसाद भार्गव यह लिखते हैं कि उस ब्रह्म का अमृत त्रिपाद स्वरूप गो लोक में विराजमान है वही ब्रह्मा नारायण का अवतार हुआ और इसी विषय में इस चतुर्थ मन्त्र को भी लगाते हैं ॥

त्रिपादूर्ध्वउदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः । ततो विष्वङ्व्यक्रामत् साशनानशनेअभि ॥ ४ ॥

सायणाचार्य्य इस मंत्र के यह अर्थ करते हैं कि वही त्रिपात्पुरुष माया में आकर पुनः पुनः संसार रूप होते हैं और इसी अर्थ को गीता के इस श्लोक से मण्डन करते हैं कि अस्यसर्वस्य जगतः परमात्मलेशत्वं भगवताप्युक्तं । विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेनास्थितोजगदिति ॥ अर्थ-इस जगत् को परमात्मा का अंश होना भगवान् कृष्ण ने भी कहा है कि मैं ही इस सबका सहारा होकर एक अंश से जगत् रूप हूं, यहां महीधर ने भी यही मायावाद वेदान्त का वेश पहनाया है कि सर्व वस्तु चराचररूप परमात्मा ही स्वयं हो गया । उव्वट ने उक्त मंत्र के

अथ, सायण महीधर दोनों से विरुद्ध किये हैं कि यह सब जगत परमात्मा से ही उत्पन्न हुआ है इस प्रकार परमात्मा को जगत् का कारण कथन किया है, आधुनिक सनातन धर्म्मियों ने तीनो आचार्य्यों की मर्य्यादा को उल्लंघन करके उक्त मंत्र को अवतार विषय में लगाया है। मंत्रार्थ यह है कि वह परमात्मा अमृत रूप त्रिपाद् से ऊपर है अर्थात् त्रिपाद से उसकी इयत्ता नहीं कथन की गई, और जो चतुर्थांश रूप पाद था वह संसार रूप हुआ। (पादोऽस्येहाभवत्पुनः) "अस्य परमेश्वरस्य पादः इह संसारे अभवत्। तत्पश्चात्साशनाअनशने" सब जड़ चेतन की रचना में उद्देश से (व्याक्राम्यत्) व्याप्त हुआ, अर्थात् सब जगत् का कारण अंश रूप प्रकृति से जगत् को रचा और वह परमात्मा उक्त चार पादों से भी महान् है, चार पाद रूप उसकी सीमा नहीं, यह मंत्र का आशय है॥

अब प्रश्न यह उत्पन्न हुआ कि उस निराकारेश्वर से जो कूटस्थ नित्य है जिसकी यह शिरादि अवयव महिमा है उस से यह साकार जगत् कैसे हुआ, इसके उत्तर में यह कहा है, कि—

ततो विराडजायत विराजो अधिपूरुषः। सजातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथोपुरः॥ ५॥

अर्थ—उस निराकार सर्व व्यापक परमात्मा से विराट उत्पन्न हुआ। विविधा राजन्ते वस्तु नियंत्रेति विराट—जिस में नाना प्रकार का कार्य्य जगत् रहे उसका नाम विराट है, अर्थात् यह ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ और यह ब्रह्माण्ड परमात्मा के उस अंश

रूप पाद से उत्पन्न हुआ, जो मृत्यु रूप चतुर्थ पाद अर्थात् परिणामी नित्य प्रकृति रूप पाद है, इससे यह सिद्ध हुआ कि परमात्मा जगत् का निमित्त कारण है, और उपादान कारण प्रकृति है इस प्रकार परमात्मा से जड़ जगत् की उत्पत्ति उसको विकारी सिद्ध नहीं करती । उस विराट प्रकृति कार्य्य रूप ब्रह्माण्ड से, (अधिपूरुषः) पुरुष में होने वाली सूक्ष्म प्रकृति, अंशो का कार्य्य जीवों का देह, अर्थात् प्राण वायु जिससे मिलके परिछिन्न चेतन जीव संज्ञा को धारण करता है जीव प्राण धारणे--इस धातु से जीव शब्द की सिद्धि है इससे भी यही पाया गया कि अधि पुरुष से प्राण वायु का अभिप्राय है, अन्यथा भूमि आदिकों से प्रथम जीव देह का वर्णन असङ्गत होता, पौराणिक लोग "अधि पूरुषः" के अर्थ ब्रह्मा के करते हैं जो उनके मत में वेद और सृष्टि का कर्ता है । यह अर्थ इन दो युक्तियों से खण्डन हो जाते हैं । (१) विराट जड़ जगत् से ब्रह्मा की उत्पत्ति उनके स्वमत विरुद्ध है । (२) इसी सूक्त के छठे मंत्र में यज्ञरूप परमात्मा से वेदोत्पत्ति मानी है जिससे पौराणिक ब्रह्म से वेदोत्पत्ति मानना खण्डन हो जाती है । (सजातः) का अन्वय "अधिपूरुषः" के साथ है और जिस पुरुष से यह विराट और इस प्राणधारी जीव का आविर्भाव हुआ वह "अतिरिच्यते" जीव प्रकृतिभ्यां भेदेनवर्त्तत" इसर्थः फिर भूमि आदि पृथक २ पुर उत्पन्न हुए, इस भेद के कथन करने की आवश्यक्ता इस लिये पड़ी कि कोई पुरुष (ततोविराडऽजायत) के अर्थ ईश्वर के अभिन्ननिमित्तोपादान के न समझ जाय । और इस बात को और भी स्पष्ट कर देने के लिये यह

छटा मंत्र है ॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम् । पशूस्तांश्चक्रे वायव्या नारण्या ग्राम्याश्चये ॥ ६ ॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे । छन्दांसिजज्ञिरे तस्माद्यजुस्त स्मादजायत॥७॥

अर्थ—उस परमात्मा से अन्न घृतादि सब पदार्थ उत्पन्न हुए और सब प्रकार के पशु आदि प्राणि, इस मंत्र से यह सिद्ध हुआ कि पुरुष सूक्त में इस प्रकरण से सृष्टि उत्पत्ति और सृष्टि विद्या संक्षेप से वर्णन की गई है । इसमें अवतार का कोई प्रकरण नहीं। इसी बात को यह सातवां मंत्र स्पष्ट सिद्ध करता है कि उस यज्ञ रूप परमात्मा से ऋग् यजु आदि वेद उत्पन्न हुए, जब उस निराकार ईश्वर से ऋगादि वेद उत्पन्न हो गए तो फिर सृष्टि उत्पन्न होने में क्या कठिनाई थी, इस मंत्र में वेदों की उत्पत्ति मानना सर्व सम्मत है । ज्वाला प्रसाद भार्गव इस मंत्र के अर्थ यह करते हैं कि उस यज्ञ महानारायण से जो ब्रह्म का प्रथम अवतार है और सनातन धर्म्म के चतुर्विंशति अवतारों से वहिष्कृत है, उससे वेद उत्पन्न हुए, यह अर्थ भी यह सिद्ध करते हैं कि ब्रह्मा जी से वेदों की उत्पत्ति मानना सनातन धर्म्मियों का वेद विरुद्ध है इसी न्यूनता के कारण पंः ज्वालाप्रसाद मिश्र ने उक्त मंत्र को वेदोत्पत्ति में नहीं लिखा, अस्तु प्रकृत यह है कि इस पुरुष सूक्त से जो सनातन धर्म्मी लोग अवतार सिद्ध करते हैं यह बात इस सूक्त से कदापि सिद्ध नहीं हो सकती ॥

और जो इस सूक्त से ब्रह्म की साकारता सिद्ध की जाती है वह भी सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि यदि इस सूक्त का साकार वाद में अभिप्राय होता तो, "एतावानस्यमहिमा" इस मंत्र में प्रकृति रूप अंश को पादरूप कथन करके ब्रह्म का अमृत स्वरूप न कथन किया जाता, और नाही "त्रिपादूर्ध्वउदैत्पुरुषः" इस मंत्र में असीम स्वरूप परमात्मा का निरूपण किया जाता इत्यादि तर्कों से इस सूक्त का साकार वाद में तात्पर्य्य नहीं। और जो ज्वालाप्रसाद मिश्र यह लिखता है कि यदि ब्रह्म निराकार था तो निराकार से निराकार ही होना चाहिये था, यह साकार सृष्टि क्या स्वामी जी के घर से आगई तिमिर भास्कर पृ० ८८ यह दिव्य दृष्टि का तर्क मिश्र जी को तभी तक सूझता है जब तक सनातन धर्म्म के बड़े २ आचार्य्यों के घर तक मिश्र जीकी दृष्टि नहीं पड़ी। यदि मिश्र जी तर्क पाद के सू० ११ के शङ्कर-भाष्य को देखते तो ऐसे तर्क से कदापि तृप्त न होते कि "निरा कार से तो निराकार ही होना चाहिये था" क्योंकि उस में काणाद मत निराकरण करते हुए स्वामी शङ्कराचार्य्य ने यह माना है कि चेतन ब्रह्म से भी अचेतन सृष्टि हो सकती है। मिश्र जी के मत में तो जड़ ब्रह्म से ही जड़ सृष्टि होनी चाहिये, इस लिये यह आधुनिक मिश्र, वेदान्त परिष्कार कर्ता वाचस्पति मिश्र के सम सनातन धर्म्म परिष्कार करते हुए ब्रह्म को जड़भी अवश्य मानेंगे॥

और जो यह लिखा है कि इस सूक्त में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है स्वामी जी गुण कर्म्म के गीत गाने लगे, यह तर्काभास

वादी को भी कलङ्कित करता है क्योंकि वादी भी सृष्टि की उत्पत्ति में जन्म से ब्राह्मणादि के गीत गाते हैं, यदि यह कहा जाय कि ब्राह्मणादि जाति की उत्पत्ति तो उत्पत्ति प्रकरण में है ? इसका उत्तर यह है कि एवं गुण कर्म्म से ब्राह्मणादि वर्णों की उत्पत्ति भी सृष्टि उत्पत्ति प्रकरण में ही श्री स्वामी दयानन्द जीने निरूपण की है फिर यह गीत कैसे ॥

पर सच है वादी को "ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्" इस मंत्र के स्वामी कृत अर्थ गीत क्यों न मालूम हों क्योंकि उसको तो इस बात का कष्ट है कि "ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्" के अर्थ मुखादि अवयवों को उपचारार्थ मानके क्यों किये गए, क्योंकि उपचार मानने से इनका ईश्वर साकार उड़ जाता है, और जो वादी प्रकरण का अनुसरण करके "मुखंकिमस्यासीत" का प्रश्न उठाकर मुखादि अवयवों के मुख्यार्थ को दृढ़ करता है, और स्वामी कृत अर्थ का उपहास करता है, वह यह नहीं देखता कि मैं "तस्मात् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः" इस मंत्र को वेदोत्पत्ति प्रकरण से निकालकर सृष्टि उत्पत्ति में डाल क्यों चुप चाप रह जाता हूं। यों तो निराकार ईश्वर से वेदोत्पत्ति होने में आप नाना प्रकार के तर्क करते हैं पर इस मंत्र के अर्थ करने में वादी के मुख से एक भी अक्षर नहीं निकलता, केवल अपने वाग् व्यापार से इधर उधर के गीत गाकर ही मंत्रार्थ करने से सर्वथा शून्य रह जाता है और तर्क यह देता है कि (गाय, घोड़े, बकरी कहां से उत्पन्न हो गए क्या इनका भी किसी के हृदय में प्रकाश कर

दिया था) तिमिरभास्कर पृ० ८५ यहां तो मिश्रजी ने योग्यता की पूरी योग्यता प्रकट कर दी, जो गाय, घोड़े, बकरी आदि का प्रकाश वेदों के समय किसके हृदय में हुआ यह प्रश्न किया, पर यह नहीं सोचा कि यह दोष तो ब्रह्मा के हृदय में वेद प्रकाश मानने वालों के मत में भी तुल्य है, क्या जब आपके मत में ब्रह्मा को वेद दिये गये तो क्या गाय, घोड़े ब्रह्मा जी के हृदय में ही प्रकाश किये गये। कहीं निराकार ईश्वर सिद्ध न हो जाय इस भय से ब्रह्मा जी के हृदय में वेदों का प्रकाश आपने माना है तो क्या आपके साकार ईश्वर ने ब्रह्मा जी के हृदय में वेद पकड़ा दिये थे? अस्तु, पर यह बतलाएं क्या गाय घोड़े का रस्सा लगाम भी परमेश्वर ने ब्रह्मा जी के हाथ में पकड़ा दिया था? या गाय घोड़ों की उत्पत्ति के लिये आपके साकार ने कोई आकार प्रथम ही बना छोड़ा था? यदि पौराणिक मत की शरण लेकर इस प्रश्न से बचोगे तो मनुष्याकृति स्त्रियों से पशु आदिकों की उत्पत्ति माननी पड़ेगी जैसी कि भागवत में मानी है। यदि "तस्मादश्वाअजायन्त" उस परमात्मा की शक्ति से सब अश्वादि उत्पन्न हुए, इस वैदिक सिद्धान्त की शरण लें तो यह बतलावें कि आपके साकार ईश्वर ने तो मुखादि अवयवों से सृष्टि पैदा की, कहो पशु कौनसे अङ्ग से पैदा हुए? क्या इन की भी अपनी वर्ण व्यवस्था के सम गाय को ब्राह्मण की उत्पत्ति का स्थान देकर वृषभ को स्वकल्पित ब्राह्मण का सहोदर बनावेंगे, एवं क्षत्रियादिकों का किस पशु को सहोदर बनायेंगे॥

यहां स्वमत को तो स्पष्ट करना था, वा वर्षा के समय आपके

ईश्वर ने हाथी घोड़े ऊपर से फेंक दिये, या मेंड़कों के सम वर्षा-काल में उत्पन्न हो गए? हमारे वैदिक सिद्धान्त में तो पश्वादिकों की उत्पत्ति ईश्वर शक्ति से मानी है जिस में स्त्री पुरुष के जोड़े से उत्पत्ति का क्रम पश्वादिकों में कहीं भी नहीं। और जो ज्वाला प्रसाद मिश्र ने ब्रह्मा जी की उत्पत्ति का आक्षेप आर्य्य सिद्धान्तों पर करके यह लिखा है कि "तो आपने ईश्वर की भी लुगाई बनाई होगी, जिस से ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए" तिमिर भा० पृ० ४२ यह अपनी घरों की पौराणिक बात का झूठ मूठ स्वामी जी के मन्तव्यों पर दोष लगाकर यह मिथ्या आक्षेप किया है। स्वामी जी ने पौराणिक लोगों के सम ब्रह्मा को सब से प्रथम कहीं नहीं माना, और न कहीं स्त्री पुरुष के जोड़े से प्रथम मनुष्यों की उत्पत्ति मानी है अतः ईश्वर की लुगाई मानने की आवश्यक्ता तो आधुनिक सनातन सिद्धान्त में है न कि आर्य्य सिद्धान्त में। रही यह बात कि आर्य्य सिद्धान्त में पश्वादिकों की उत्पत्ति बिना माता पिता पूर्व काल में कैसे हुई? इसका उत्तर यह है कि परमात्मा की शक्ति से पश्वादि, स्वेदज जन्तुओं के सम प्रथम ईश्वर नियम से उत्पन्न हुए इसी बात को यह अष्टम मंत्र कथन करता है॥

तस्मादश्वा अजायन्त येकेचोभयादतः। गावोह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः॥ ८॥

अर्थ—उस परमात्मा से गौ अश्वादि सब पशु उत्पन्न हुए। सनातन धर्म के उब्वट और महीधराचार्य्य इस मंत्र का यह आशय बतलाते हैं कि यह मंत्र यज्ञ के प्रकरण को चलाता है क्योंकि

यज्ञ पशुओं से बिना सिद्ध नहीं हो सकता, इस लिये इस मंत्र में पशुओं की उत्पत्ति कथन की गई है उव्वट और महीधर की प्रतीक यह है, "नहिपशुभिर्विना यज्ञः सिध्येत्" अर्थ—पशुओं से बिना यज्ञ सिद्ध नहीं होता। यहां पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र यदि अपने उव्वट महीधराचार्य्य की शरण में रहते तो अपने बीसवें सिद्धान्त में यज्ञ की परिभाषा करते हुए यज्ञ में पशुवध से किनारा न करते॥

दूसरी बात यह है कि यदि उक्त भाष्यों तक दृष्टि पहुंचती तो गुण कर्म के अर्थ को गीत न बतलाते, क्योंकि यहां तो सनातन धर्म्म के सब आचार्य्यों ने इस जगदुत्पत्ति प्रकरण में यज्ञ प्रकरण भी माना है, और इस नवम् मंत्र से यज्ञ में पशुवध स्पष्ट सिद्ध किया है, इसी लिये आज कल के सनातनधर्म्मी इस मंत्रार्थ से किनारा करते हैं, ज्वालाप्रसाद भार्गवादि इसको स्व पुस्तक में लिखते ही नहीं, और प्रकरण के अनुसरण का बड़ा दम्भ भरने वाले पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र भी "ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्" इस मंत्र में श्री स्वामी दयानन्द जीके अर्थों को खण्डन करते हुए प्रकरण यों बतलाते हैं कि जिस परमेश्वर का यजन किया उसकी कितने प्रकारों से कल्पना हुई, उसका मुख भुजा उरु कौन हुए, और कौन पाद कहे जाते हैं? इसके उत्तर में (ब्राह्मणोस्येति) यह मंत्र है ति० भा० पृ० ८३। यहां साफ ही उस बात पर पड़दा डाल गए जिसका यज्ञ किया जाना महीधर उव्वट मानते थे, उसको उलटा स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के अर्थों को मानकर यह लिखते हैं कि जिस परमेश्वर का यजन किया यहां यह स्मरण

रहे कि परमेश्वर विषयक इस मंत्र को स्वामी दयानन्द जी ने ही लगाया है सन्देह हो तो देखो पुरुष सूक्त भाष्यभूमिका पृ० १२५

मंत्रार्थ स्पष्टतया यह है कि (तंयज्ञं) उस यज्ञ परमात्मा को यज्ञ यहां परमेश्वर का नाम है यह अर्थ "तस्मात् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः" इस मंत्र से उभय पक्ष को सम्मत है (बर्हिषि) हृदय स्थान में स्मरणात्मक संस्कार से (पुरुषं जातमग्रतः) यह उस यज्ञ पुरुष का विशेषण है कि कैसे पुरुष को जो सृष्टि से प्रथम (जातं) जनि प्रादुर्भावे से जात शब्द निष्पन्न हुआ है जिस के अर्थ प्रकट के हैं अर्थात् सृष्टि से प्रथम जो सब जगह प्रगट था उसी से देव विद्वान् साध्वाः साधन सम्पन्न ज्ञानी लोग "ऋषयो मंत्र द्रष्टारः" ऋषि मंत्रार्थों के परम ज्ञाता लोग उसी परमात्मा से पूर्व कल्पों में यज्ञ करते रहे यह मंत्र के अर्थ हैं। जिस में महीधर ने "यूप" यज्ञस्तम्भ में बांधे हुए पशु के किये हैं, इसी कारण इस मंत्र को गोप्य करके "यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्" इस मंत्र से तिमिर भास्कर में प्रकरण चलाया है अस्तु इस प्रकरण से भी उनका मत सिद्ध नहीं होता, इस मंत्र में (व्यकल्पयन्) कल्पयन् क्रिया इस अर्थ को सिद्ध करती है कि उस पुरुष के मुखादि अवयव कल्पना किये गए हैं वास्तव में उसके मुखादि नहीं। यही अर्थ "चन्द्रमा मनसोजातः" इस मंत्र के भाष्य में उव्वट ने किये हैं कि "चन्द्रमा मनसः चेतसः जातः अजायतेति कल्पना" चन्द्रमा मन से उत्पन्न हुआ यह कल्पना है और इसी बात को मंत्र १३ में स्पष्ट कर दिया है कि

यह जो परमात्मा के अवयवों की कल्पना की गई है यह कल्पित है वस्तुतः नहीं, इसी लिये उव्वट लिखता है कि "तथैव सर्वान् लोकान् पुरुषस्यावयव भूतान् अकल्प यदिति" अर्थ-इसी प्रकार पुरुष के अवयव रूप सब लोकों की कल्पना की गई। यहां यह प्रश्न होगा कि यहां उव्वट के अर्थ क्यों प्रमाण किये जाते हैं, और जहां २ उव्वट भाष्यकार के अर्थ अपने से विपरीत आते हैं वहां क्यों छोड़ दिये जाते हैं ? इसका उत्तर यह है कि जब वादी के माने हुए सनातन भाष्यकारों में से एक भी उनके विपरीत हो तोभी हमारा पक्ष दृढ़ होता है क्योंकि उनके पक्ष का भाष्यकार जब ईश्वर की अवयव कल्पना कल्पित मानता है तो स्पष्ट सिद्ध होता है कि आज कलके सनातन धर्म्मी जो पुरुष सूक्त से ईश्वर को साकार सिद्ध करते हैं यह उनकी भूल है। पुरुष के अवयवों की कल्पना को न केवल उव्वट ही मानता है किन्तु अद्वैत विद्याचार्य्य श्री शङ्कराचार्य्य स्वामी रामानुजाचार्य्य प्रभृति सब परमार्थ विद्या के आचार्य्य लोग साकार निरूपण को उपचार ही मानते हैं इस बात को हम बहुधा स्पष्ट कर चुके हैं जैसे कि "द्यौ मूर्द्धानं यास्य विप्रा वदन्ति खंवै नाभी चन्द्र सूर्य्य चनेत्रे" इत्यादि प्रमाणों से पूर्वोक्त आचार्य्यों ने मूर्द्धादि अवयवों की कल्पना उपचार से मानी है जब यह सिद्ध हुआ कि मुखादि अवयव उस पुरुष के कल्पित हैं अर्थात् उपचारार्थ वाले हैं तो फिर उन मुखादि अवयवों से जो ब्राह्मणादि वर्णों की उत्पत्ति मानी है वह मुख्य कैसे समझी जाय ॥

यदि वादी स्वमत के दृढ़ आग्रह से यह कहे कि "ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्" इत्यादि पुरुष सूक्त के मंत्रों में जोर२ ईश्वर के अवयव कथन किये हैं वह सब मुख्यार्थ वाले ही हैं उपचारार्थ इस सूक्त में कहीं भी नहीं तो हम यह पूछेंगे कि १८वें मंत्र में जो "अबध्नन्न पुरुषं पशु" यह पाठ है इसके क्या अर्थ हैं, आपके भाष्यकार यहां पुरुष में पशु बुद्धि करते हैं कि वह यज्ञ पुरुष पशु रूप से यज्ञ में स्थित है वास्तव में पशु नहीं तो क्या आप यहां उस परमात्मा पुरुष को साक्षात् पशु बना देंगे? यह हम दृढ़ प्रतिज्ञा से बल पूर्वक कहते हैं कि सहस्रों सनातन नामावलम्बी पुरुष सूक्त को साकारवाद में लगाने वाले यदि एक तरफ होकर प्रबल बल लगाएं तब भी यहां पुरुष को पशु कहना मुख्य सिद्ध नहीं कर सक्ते किन्तु गौण ही सब मानेंगे, फिर मुखादि अवयव उसके मुख्य कैसे माने जाते हैं? परिणाम यह निकला कि जब मुखादि अवयव ही परमेश्वर के आरोप से कथन किये गए तो उनसे ब्राह्मणादि वर्णों की उत्पत्ति कैसे? और "ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्" इत्याद मंत्रों से साकार ईश्वर की सिद्धि कैसे? परमात्मा के मुखादि अवयव मुख्य मानकर ब्राह्मणादि वर्णों को जन्म से सिद्ध करना वेदाशय से सर्वथा विरुद्ध है। उक्त दोनों मंत्रों का अर्थ यह है, कि (यत) (यदा) जिस समय में (पुरुषं) परमात्मा के अङ्गों की (व्यदधुः) कल्पना की गई (कतिधा) (व्यकल्पयन्) कितने प्रकारों से कल्पना की गई (मुखं) मुख (किं) क्या (अस्य) परमात्मा का (आसीत्) था (किं) क्या

(बाहू) भुजाएं (किं) क्या (उरू) जंघा (पादा) पाव (उच्येते) कथन किये गए, मंत्रार्थ यह हुआ कि परमात्मा में जो अङ्गों की कल्पना की गई वह कितने प्रकारों से की गई मुख बाहू उरुपाद क्या २ कल्पना किये गए? इस प्रश्न के उत्तर में "ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्" यह मंत्र है, इस सङ्गति को पंडित ज्वालाप्रसाद मिश्र भी स्वीकार करते हैं फिर कैसे कह सक्ते हैं कि ब्राह्मणादि वर्ण परमात्मा के मुखादि अवयवों से उत्पन्न हुए, क्योंकि प्रश्न में यह बात स्पष्ट है कि "मुखं किमस्यासीत्" परमात्मा का मुख क्या था प्रश्न यह नहीं, किन्तु मुख से क्या उत्पन्न हुआ? क्या यह अनर्थ हो सक्ता है कि परमात्मा ने यह प्रश्न करके कि मुख क्या था और मुख से उत्पन्न होने वाले का उत्तर दिया, यह प्रश्न विरुद्ध उत्तर ज्वालाप्रसाद मिश्र को ही शोभता है ईश्वर को नहीं॥

और जो वादी ने यह कहा है कि मंत्र में कोई ब्राह्मण क्षत्रिय के लक्षण नहीं पूछता है किन्तु ईश्वर विषयक प्रश्न है, जब ब्राह्मण क्षत्रिय के लक्षण नहीं पूछे तो जन्म कहां पूछा है? हमारा सिद्धान्त तो प्रश्नोत्तर में स्पष्ट है जो मुखादि अवयवों का प्रश्न था उसके उत्तर में ब्राह्मणादि वर्ण मुखादि रूप प्रतिपादन किये गए, ब्राह्मणादि वर्ण उपचार से उसके मुखादि कहे गये हैं यह आशय "ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्" इस मंत्र में स्पष्ट है, अर्थ यह है कि (ब्राह्मणः) ब्राह्मण शब्द से यहां आशय यह है कि ब्रह्म नाम वेद का है ब्रह्मवेदस्तमधीते इति ब्राह्मणः- ऐसा ब्राह्मण उस परमात्मा का मुख है एवं क्षत्रियादि शब्दों के यौ-

गिक अर्थ से जो क्षत्रियादि वर्ण हैं उनमें से क्षत्रिय बाहू–वैश्य उरु–शूद्रपाद–उस पुरुष के कल्पना किये गए हैं। यद्यपि इस वेद मंत्र में गुण कर्म्म से ब्राह्मण वा जन्म से ब्राह्मण इसकी कोई व्याख्या नहीं तथापि गुण कर्म का पक्ष इस लिये दृढ़ पाया जाता है कि आदि सृष्टि में जन्म से जाति की प्रवृत्ति न थी और यह तर्क भी इस बात का बाधक है कि एक जन्म का ब्राह्मण माना हुआ और कर्म्म से रावणादिकों के सम राक्षस परमेश्वर का मुख कहलाने योग्य कैसे हो सक्ता, प्रत्युत अतिनीच समझा जाकर आधुनिक सनातन धर्म्मियों की सम्मति में भी ईश्वरावतार से वध किये जाने योग्य होता है तो परमेश्वर के मुख होने की कथा ही क्या ?

और जो "पद्भ्यां शूद्रोऽजायत" इस में पञ्चमी विभक्ति के उत्पन्न होने के अर्थ वादी असन्त बल से कहता है इसका उत्तर उन्हीं के मत से यह है कि "नाभ्या आसी दन्तरिक्षं" यहां पञ्चमी के अर्थ उव्वट यह करता है कि "तस्यैवं विध पुरुषस्य या नाभिः तदेवान्तरिक्षं नभः" अर्थ–पूर्वोक्त पुरुष की जो नाभी है वही अन्तरिक्ष आकाश है अर्थात् नाभि स्थानी आकाश है, यहां आपके उव्वटाचार्य्य ने उत्पत्ति के अर्थ क्यों नहीं किये, करते ही कैसे जब कि इस साकार प्रकरण को ही आचार्य्य लोग उस परमात्मा की अङ्ग कल्पना समझते हैं, देखो इसी मंत्र का उव्वट भाष्य, "यद्यौतत् शीर्षं शिरः समवर्त्तत इति कल्पितम्" अर्थ–जो द्यौलोक है वह शिर कल्पना किय

गया और जो "चन्द्रमा मनसोजात:" इस मंत्र से उत्पत्ति का प्रकरण सिद्ध करते हुए महाडम्बर से साकार वाद का आकार बांधते हुए पं:ज्वालाप्रसाद मिश्र ने स्वामीजी के उक्त मंत्र के मन के अर्थों पर रुष्ट होकर वर्णसंकर की रीति चलाने वाले इस प्रकार अनन्त गालियों की बोछाड़ झाड़ते हुए यह सिद्ध किया है कि मन के अर्थ मननशीला के नहीं किन्तु ईश्वर के मन के हैं। यहां भी अवयवार्थ से तो नहीं भाग सक्के "मन्यते बुध्यते अनेनेति मन:" यह अर्थ तो मानना ही पड़ेगा, फिर इतना रोष क्यों जो श्री स्वामी दयानन्दजी का नाम लेकर गालियें दीं अस्तु हम इन की इस निन्दित प्रकृति की ओर ना जाकर इनके सम्प्रदायी मनके माने हुए अर्थों को खोलते हैं देखो गीता में कृष्ण जी कहते हैं "इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना" यहां मनके अर्थ स्वामी शङ्कराचार्य्यादि भी यौगिक ही मानते हैं, बहुत क्या यहां तो आपके परमेश्वर स्वयं मन बन गए, फिर वह मन साकार कहां रहा जिससे चन्द्रमा उत्पन्न करेंगे। आपके मत में तो चन्द्रमा को मन का कार्य्य कहना एक ऐसा गोरख धंधा है जो आज तक किसी से भी नहीं सुलझा देखो "नक्षत्राणामहंशशी" इस गीता वाक्य से चन्द्रमा भी आपके भगवान ही बनगए, यदि चन्द्र रूप से कलङ्कित है तो भी आपके भगवान ही हैं, यदि गोतम की स्त्री पर आसक्त हैं तब भी आपके भगवान ही हैं, यदि ऐसे भगवान का ध्यान धरके आप इस पुरुष सूक्त का आशय समझते हैं तो तथास्तु पर इसकी व्यवस्था क्या करेंगे कि यहां तो "चक्षोः सूर्य्योरजायत:" इस

वाक्य में आपके मत में साकार परमेश्वर की आंखों से सूर्य्य उत्पन्न हुआ और गीता में "ज्योतिषां रविरशुमान्" इस वाक्य में सूर्य्य परमेश्वर है इस दुर्घट घाटी में तो आप सब नाम रूप को मलियामेट करके विवर्त्तवाद का आश्रय लेकर सब को ब्रह्मात्मक सिद्ध करेंगे, यह क्या विचित्र चित्र है कि यहां इतनी उदारता कि सब ब्रह्म विवर्त्त होने से कल्पित है और एक कूटस्थ नित्य ब्रह्म ही सत्य है, वह सदा निराकार एक रस है, और इस पुरुष सूक्त के आशय वर्णन करने में इतनी कृपणता कि यहां ब्रह्म के मुखादि अवयवों का अलङ्कार रूप से वर्णन मानने में इतनी ननु नच करते हैं कि आपके मनके अवयवार्थ भी इतने चुभते हैं कि मनको भी साकार ही मानकर उससे चन्द्रमा द्रव्य की उत्पत्ति मानते हैं ॥

क्यों न हो यही तो न्याय और दार्शनिक विद्या का तत्व है एवं विध विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रकरण ईश्वर को देह धारी कथन नहीं करता किन्तु रूप का उपन्यास करके ईश्वर की निराकारता सिद्ध करता है, अन्यथा "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं" इत्यादि मंत्रों की सङ्गति इस पुरुष सूक्त में कैसे रहती? उक्त मंत्र में उस पुरुष के ज्ञान का महत्व वर्णन किया गया है और यह भी बतलाया गया है कि उक्त पुरुष के ज्ञान से भिन्न और कोई मुक्ति का मार्ग नहीं। इस मंत्र में जो महान् शब्द आया है उससे यह भी प्रकट हो गया कि यहां महान् शब्द का तात्पर्य्य असीम परमेश्वर का है फिर ससीम साकारादि रूप परमेश्वर का कैसे हो सक्ता है ॥

उव्वट भाष्यकार यह अर्थ करते हैं कि "महान्तं देशकालाद्यवच्छेदरहितं" अर्थ–महान्त का अर्थ देश काल वस्तु कृत परिच्छेद रहित का है उक्त त्रिविध परिच्छेद रहित वही वस्तु रह सक्ती है जो साकार न हो क्योंकि साकार वस्तु एक देश में होती है इस लिये देश कृत परिच्छेद वाली होती है एक काल में होने से काल परिच्छेद वाली होती है मूर्त्ति होने से वस्तु कृत भेदवाली होती है ॥

सच्चिदानन्दादि लक्षण युक्त ईश्वर उक्त दोषों से रहित है इस प्रकार मीमांसा करने से इस सूक्त में ईश्वर के साकार होने का गंध मात्र भी नहीं पाया जाता। पर एवं पूर्वोत्तर मंत्रों का विस्तार पूर्वक आशय वर्णन करने से ग्रंथ वढ़ता है अतएव हम मंत्रार्थ मात्र लिखते हैं। केवल संक्षेप से उन मंत्रों के पौराणिक अर्थ सूचित कर दिया करेंगे ॥

चन्द्रमामनसोजातश्चक्षोः सूर्य्योऽजायत। श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥ १२ ॥

अर्थ—उस पूर्वोक्त परमात्मा जिससे विराट उत्पन्न हुआ और जिससे ऋगादि वेद चतुष्टय उत्पन्न हुए, उसके (मनसः) मनन रूप सामर्थ्य से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ (चक्षुः) तेज रूप सामर्थ्य से सूर्य्य उत्पन्न हुआ, और (श्रोत्र) सूक्ष्म आकाश रूप सामर्थ्य से (वायुः) साधारण वायु और प्राण वायु उत्पन्न हुई (मुखादग्निरजायत) मुख्य ज्योति रूप सामर्थ्य से अग्नि उत्पन्न हुआ ॥

नाभ्या आसीदन्तरिक्ष शीर्ष्णोद्यौः समवर्त्तत।

पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोका २ ॥ अकल्पयन् ॥ १३ ॥

अर्थ—उस परमात्मा की (नाभि)अवकाशरूप सामर्थ्य से अन्तरिक्ष उत्पन्न हुआ (शीर्ष्णो) शिरोरूप उत्तम सामर्थ्य से (द्यौ) सूर्य्यादि लोक, (पद्भ्यां,) पादरूप अर्थात् स्थूलरूप होने से वा गतिरूप होने से पादरूप पृथवी के कारण परमाणुरूप सामर्थ्य से भूमि उत्पन्न हुई और (श्रोत्रात्) अवकाशरूप सामर्थ्य से पूर्वोत्तरादि दिशाएं उत्पन्न हुई (तथालोकांअकल्पयन) तथा पूर्वोक्त प्रकार से लोक लोकान्तरों के कारणरूप सामर्थ्य से सब लोकान्तर उत्पन्न हुए ॥

"चन्द्रमा मनसोजातः" इससे और "नाभ्याऽसीत्" इससे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति उस पूर्ण परमात्मा के सामर्थ्य से दिखलाई गई, अब यज्ञ का प्रकार परमात्मा दिखलाते हैं ॥

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत। बसन्तो ऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥ १४ ॥

अर्थ—(यत्पुरुषेण हविषा) उस परमात्मा के दियेहुए हविः से देव लोग जो यज्ञ करते हैं उस यज्ञ में यह सामग्री हैं, बसन्त ऋतु उस यज्ञ का (आज्य) घृत है ग्रीष्म ऋतु (इध्म) समिधाएं और शरदृतु उस यज्ञ का (हविः)हवन की सामग्री, भाव यह है कि प्राकृत नियम से उक्त यज्ञ होता है जिसमें बसन्त काल में जो वनस्पति आदि फूलते हैं उनके रसादि ग्रीष्मकाल

रूपी अग्नि में घृत के समान हैं शरदर्तु के पदार्थ हविः के समान हैं यह प्राकृत यज्ञ उस पुरुष परमात्मा के नियम से है और यह वक्ष्यमाण इस यज्ञ में परिधियें हैं एक विंशती समिधाएं हैं।

सप्तास्यासन्परिधयस्त्रिसप्त समिधःकृताः।देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम् ॥ १५ ॥

अर्थ— देवलोग जिस यज्ञ को करते हैं और (पुरुषं) परमात्म अविशेषेण, सर्वं पश्यतीतिपशुःदृशि प्रेक्षणे से यह शब्द उणादि प्रत्यय होने से बनता है दृशिको पश्यादेश होजाता है, एवं विध सर्व द्रष्टा जो परमात्मा है उसको देव उपासक लोग (अबध्नन्) ध्यान द्वारा अन्तः करण में स्थिर करते हैं इस यज्ञ की पृथ्वी के ऊपर जो सात प्रकार के तत्वों की रचना है अर्थात् वायु आदिकों के चक्र हैं वही परिधि रूप हैं जो यज्ञ साधन वेदी की शोभा रूप हैं। पांच महाभूत, पांच तन्मात्रा, पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्म्मेन्द्रिय, इक्कीसवां मन, यह इक्कीस समिधा हैं, पूर्वोक्त साधन सामग्री से ध्यानी लोग परमात्मा देव का ध्यान करते हैं ॥

पौराणिक लोग इसका यह अर्थ करते हैं कि यह मंत्र पशु यज्ञ को सिद्ध करता है। "देवा इन्द्रादयः यथा यज्ञं पुरुष मेधाख्यं विस्तरयन्तः। पुरुषं पशुं अबध्नन् हतवन्तः" अर्थ–इन्द्रादि देव जिस प्रकार पुरुष मेध यज्ञ में पुरुष रूप पशु को हनन करते हैं एवं इस यज्ञ में उस परमात्मा रूप पशु को ध्यानी योगी लोग ध्यान द्वारा, दृष्टान्त दार्ष्टान्त का साम्य न होना पौराणिक मत का ही दोष है, हमें दर्शाना यह अपेक्षित

था कि पौराणिक लोग यज्ञ में पशुवध करना मानते हैं, जो पशु वध के दृष्टान्त से इस मंत्र में स्पष्ट कर दिया है ॥

वेद मंत्र का आशय हम ऊपर कथन कर आए हैं जिस में पुरुष का विशेषण पशु शब्द है जिसके अर्थ सर्व द्रष्टा के हैं अतएव वैदिक पथ पशुवध के कलङ्क से सर्वथा रहित है इसी बात को इस मंत्र से स्पष्ट करते हैं कि वैदिक लोग (यज्ञ) परमात्मा की उपासना से ही यज्ञ करते हैं नकि पशु आदिकों से ॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् । तेहनाकंमहिमानः सचन्त यत्र पूर्वेसाध्याःसन्ति देवाः ॥ १६ ॥

अर्थ—(देवाः) विद्वान् लोग (यज्ञ) परमात्मा से (यज्ञं) यज्ञ का यजन करते हैं (तानि धर्म्माणि) वही धर्म्म (प्रथमाणि) सवधर्म्मों से मुख्य है, एवं विध यज्ञ करने वाले ही स्वर्ग को भोगते हैं। जिस स्वर्ग में (साध्या) साधन सम्पन्न लोग उक्त उपासना रूप यज्ञ करके पूर्व काल से सुखी हैं, स्वर्ग से यहां अवस्था विशेष का अभिप्राय है लोक विशेष का नहीं, अव इस यज्ञ प्रकरण के अनन्तर इस मंत्र में ईश्वर का जगत्कर्तृत्व का वर्णन करके परमात्मा के ज्ञान का महत्व कहते हैं ॥

अदभ्यः संभृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्म्मणः समवर्त्तताग्रे। तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्त्यस्य देवत्वमाजा न मग्रे ॥ १७ ॥

अर्थ—विश्वकर्म कार्य्यं यस्य स विश्वकर्म्मा-उस परमात्मा रूप निमित्त कारण से (अद्भ्यः) जलरूप उपादान कारण से और (पृथिव्यैः) पृथिवीरूप उपादान कारण से,पृथिवीजल, यहां उपादान मात्र का उपलक्षण है (अग्रे) आदिकाल में जगत् (समवर्त्तत) कार्य्य दशा को प्राप्त हुआ, समवर्त्तत क्रिया से जगत् का अध्याहार हो जाता है (तस्य) (जगतः) उस जगत् के (त्वष्टा) परमात्मा (विविधरूपमेति) नाना प्रकार के रूपों को ज्ञान द्वारा प्राप्त हुआ (मर्त्यस्य) मरणधर्म्म वाले नाम रूपात्मक जगत् का यह रचना रूप (देवत्वं) दिव्यगुण युक्त को (आजानं) प्राप्त हुआ अर्थात् उक्त प्रकार की रचना से यह जगत् दिव्य सुंदर रूप वाला हो गया ॥

सनातन धर्म्म के महीधरादि आचार्य्य इस मंत्र को सूर्य्य पक्ष में लगाते हैं और यह कहते हैं कि (त्वष्टा) सूर्य्य पृथिवी जलादि पांच भूतों से प्रथम है, न केवल यही बात किन्तु (विश्वकर्म्मा) ब्रह्मा से भी सूर्य्य पहले था यह अर्थ वेदके आशय से सर्वथा विरुद्ध है क्योंकि"वेदाहमेतम्"इस मंत्र में ईश्वर का वर्णन है इस को सब भाष्य कार मानते हैं कि इस मंत्र में सर्व व्यापक परमेश्वर का वर्णन है यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है और "आदित्यवर्णं" यह शब्द इस अर्थ को स्पष्ट सिद्धकरता है कि यहां सूर्य्य की स्वतः प्रकाश होने से ब्रह्म को उपमा दी गई है जब इस मंत्र में सूर्य्य उपमान है और ब्रह्म उपमेय है तो ब्रह्म भौतिक सूर्य्य कैसे होसक्ता है, इसलिये यह आशय स्पष्ट है कि "एतं पुरुषं" कथन करने से "अद्भ्यसंभृतः" इस मंत्र में

वर्णित (त्वष्टा) का "वेदाहमेतम्" इस मंत्र में ग्रहण है इस लिये "त्वष्टा" शब्द यहां ब्रह्म का वाचक है ॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णंतमसः परस्तात् । तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ १८ ॥

अर्थ—(अहं) मैं (एतं) पूर्वोक्त पुरुषं (वेद) जानता हूं (महान्तं) जो देश कालादि से परिच्छिन्न नहीं अर्थात् सर्व व्यापक है (आदित्य वर्ण) आदित्य सूर्य्य के समान जिसका वर्ण है इससे स्व प्रकाश अभिप्रेत है और जो (तमसः) अविद्यारूप अन्धकार से परे है, उक्त विशेषणों वाले पुरुष को जानकर ही (अतिमृत्युं) मृत्यु से रहित जो मोक्ष रूप पद है उसको प्राप्त होता है (नान्यः पन्था) और कोई मार्ग उसके (अयनाय) जानने के लिये नहीं। इस मंत्र को भी महीधर सूर्य्य मण्डल में रहने वाले पुरुष में लगाता है, और "आदित्यवर्ण" का यह उत्तर देता है कि यहां अपने लिये अपनी ही उपमा है, यह अर्थ सर्वथा असङ्गत है ॥

इन पौराणिक भाष्यकारों की बुद्धि पर असन्त शोक है जो पूर्वापर पर परदा डालकर लोगों की बुद्धि को व्यामोहित करना चाहते हैं देखो "चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षो सूर्य्योऽजायत्" इस मंत्र के भाष्य में महीधर सूर्य्य की उत्पत्ति परमात्मा के चक्षुरूप सामर्थ्य से मान आया है। इससे सार यह निकला कि जब सूर्य्य स्वयं कार्य्य है तो वह "वेदाहमेतं" इस मंत्र का विषय कैसे हो सक्ता है ॥

यदि यह कहा जाय कि जिस पुरुष का ज्ञान इस मंत्र में निरूपण किया गया है वहतो सूर्य्य मण्डल में रहने वाला है तो उत्तर यह है कि जब उस परमात्मा के चक्षुरूप सामर्थ्य से सूर्य्य नहीं उत्पन्न हुआ था तब वह आपका सूर्य्य मंडलस्थ पुरुष किस में स्थिर था ॥

एवं अर्थों के अनर्थ करने वाले भाष्यकारों ने वेदार्थ को ऐसा बिगाड़ा है कि जिसका सुधार अति दुर्घट दिखाई देता है ॥

देखो फिर महीधर ने इसके आगे के "प्रजापतिश्चरति" इस मंत्र को जीव के ब्रह्म बनने में लगा दिया है, यहां याद रखने योग्य यह बात है कि ईश्वर की कृपा से और महर्षि स्वामी दयानन्द जी के परिश्रम से यह बीज आधुनिक सनातन धर्म्म के भाष्यकारों के हृदय में बोया गया है जिससे अब वे सूर्य्यादि जड़ पदार्थों की शरण छोड़कर यथा शक्ति ईश्वर विषय के मंत्रों को ईश्वर विषय में ही लगाते हैं प्रमाण के लिये देखो मूर्त्तिरहस्य पं: ज्वालाप्रसाद भार्गव कृत पृ० ९ इसमें आपने "वेदाह मेत पुरुषं" इस मंत्र के अर्थ ईश्वर विषयक किये हैं, केवल एक यही पण्डित नहीं किन्तु पं: ज्वालाप्रसाद मिश्र भी तिमिरभास्कर पृ० २१८ में उक्त मंत्र के अर्थ निम्नलिखित करते हैं अर्थ—मैं उस महान् पुरुष को जानता हूं जो प्रकाश स्वरूप अंधकार से परे है जिसको जानकर यह प्राणी मृत्यु को अति क्रमण करता है अर्थात् जन्म मरण से छूटता है परमपद प्राप्ति के निमित्त और कोई मार्ग नहीं है ॥

सच है सत्य वही जो सिर चढ़ बोले, अब बतलाओ यह अर्थ कहां से उड़ाए तुमतो सूर्य्य मण्डलस्थ पुरुष की उपासना करने वाले थे यहां क्यों महीधरादिकों की कार को काट गए और पौराणिक धर्म्म के सहस्र मुख को यहां तक मूक कर गए कि परमपद की प्राप्ति के निमित्त और कोई मार्ग नहीं है 'वेदाह मेतम्' के भाष्य में यह मान बैठे । यहां क्यों पौराणिकों के मुक्ति के सहस्र मार्गों को मेट गए, इतना ही नहीं गीता के इस श्लोक को भी धोकर पी गए ।

यो यो यां यां तनुंभक्तः श्रद्धयार्च्चितु मिच्छति ।
तस्य तस्याचलांश्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥
भ० गी० अ० ७ श्लो० २१ ॥

जो जिस किसी मार्ग से पुरुष चाहे आए सब मार्गों से मुझे ही प्राप्त होता है । और सनातन धर्म्म के इस मुख्य सिद्धान्त पर भी चोट कर गए जिसको पं: अम्बिकादत्त व्यास ने इस प्रकार लिखा है हम किसकी पूजा नहीं करते ? हमारी पूजा परिपाटी से क्या बच जाता है सूर्य्य चन्द्रादि ग्रह तथा तारों की पूजा हम करते हैं, वायु जल, अग्नि आदि तत्वों की पूजा हम करते हैं नदी तड़ाग समुद्र कूपादि की पूजा हम करते हैं इत्यादि सहस्रों मार्ग हैं । और आप परमपद की प्राप्ति के लिये एक ही मार्ग बतलाते हैं । सच यह है यहां तो स्वामी दयानन्द सरस्वती जी की छाया पड़ गई जो "नान्यः पन्था विद्यते ऽयनाय" के अर्थ यह किये कि अविद्यान्धकार रहित स्वतः प्रकाश निरा-

कार एक परमात्मा के ज्ञान से विना परमपद प्राप्ति के निमित्त और कोई मार्ग नहीं है ॥

ठीक है यही सत्य है पर "प्रजापतिश्चरति" इस मंत्र के अर्थों में इतनी फेर फार क्यों? जो महीधर का अहं ब्रह्मवाद और उव्वट का निराकार ईश्वरवाद उड़ा गए और निराकार के अवतार की ऐसी तार बांधी कि सब कुछ भूल गए, जो अजन्मा परमेश्वर को गर्भ वास कलङ्क लगाने से न टले, देखो उक्त मंत्र का उव्वट यह आशय वर्णन करता है "ये धीरा योगिनः ते तस्य योनिं परिपश्यन्ति, सर्वं त्यागेन परिहरन्ति" अर्थ–धीर योगी जन उस परमात्मा की कारणता को अनुसन्धान करके सब आविद्यक बातों का त्याग करते हैं। अवतार का आशय किसी भाष्यकार ने भी इस मंत्र में नहीं कथन किया, इस बात को हम अर्थाभास निदर्शन प्रकरण में दिखला चुके हैं उसी स्थल में उक्त मंत्र के अर्थ भी किये गए हैं ॥

यो देवेभ्य आतपति यो देवानां पुरोहितः। पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये ॥ २० ॥

अर्थ–जो परमात्मा देव लोगों को (आतपति) प्रकाश करता है अथवा सूर्य्यादि देवों को (प्रकाशयति) प्रकाश करता है और उन देवों से पूर्वकाल में कारणरूप होकर सब से प्रथम (जातः) विराजमान है अर्थात् प्रकट है, जनि धातु से जातः शब्द निष्पन्न हुआ है जिसके अर्थ प्रकट के हैं और वह परमात्मा देव विद्वान् तथा सूर्य्यादि भौतिक देव सबका पुरोहित "पुरः" आदि काल

से ही सबका हित करने वाला है, पुरः आदावेव हितं मङ्गलं यस्मात् स पुरोहितः—सूर्य्यादि पक्ष में नियमाधीन रखना ही हित है, ऐसा (रुचाय) रोचमानाय अत्यन्त प्रिय ब्राह्मये ब्रह्मभाव के लिये नमः नमस्कार है ॥

महीधरादिकों ने इस मंत्र को भी सूर्य्य पक्ष में लगाया है। पर ज्वालाप्रसाद भार्गव ने अपने मूर्त्ति रहस्य पृ० ९ में इस मंत्र को निराकार विषय में लगाया है और "रुचं ब्राह्मम्" इस मंत्र को भी निराकार विषय में ही लगाया है, महीधरादि इसको सूर्य्य विषय में लगाते हैं ॥

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन्। यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन्वशे ॥ २१ ॥

अर्थ—(अग्रे) सृष्ट्यादौ सृष्टि के आदि में (ब्राह्मं) ब्रह्म के भाव सच्चिदानन्दादिकों को (रुचं) अति प्रिय रूप, जानते हुए देव लोग यह बोले कि हे परमात्मन् जो लोग आपको इस प्रकार के सच्चिदानन्दादि लक्षण युक्त मानते हैं, सब देव विद्वान् उस ब्रह्मवेत्ता के वश में हो जाते हैं जो ज्ञानी पुरुष आपको ज्योतिः स्वरूप मानता है अर्थात् यथावस्थित सच्चिदादि लक्षण युक्त मानता है ऐसे यथार्थ वेत्ता के वश में सब ज्ञानी लोग रहते हैं, प्रिय मानते हैं यह भाव है ॥

महीधरादिकों ने उक्त मंत्र को सूर्य्य के विषय में लगाया है इस बात का हमें किञ्चिन्मात्र भी शोक नहीं, क्योंकि वह लोग ऐसा ही समझते थे, शोक इस बात का है कि ज्वालाप्रशाद भार्गव ने

उक्त मंत्रों के तत्व को समझकर भी "श्रीश्चतेलक्ष्मीश्च" इस मंत्र को महालक्ष्मी के निरूपण में लगा दिया है, इतना भी नहीं सोचा कि जब मैं उक्त मंत्र के अर्थ स्वप्रकाश परमात्मा के कर रहा हूं तो अब वह परमेश्वर कहां से निकल आएगा जिसकी दो स्त्रियें लक्ष्मी और श्री बनाता हूं। सोच कैसे सक्ते हैं जब मत का आग्रह आकर ग्रस लेता है तो सब सत्यार्थ भुला देता है । अवतारवाद के मद में आकर भार्गवजी ब्रह्म के सब भावोंको भूल गए, जिनको पहले अपनी लेखनी से भी लिख आए हैं । इस मंत्र में पुरुष सूक्त का उपसंहार है, "सहस्रशीर्षा" से जिस पुरुष का उपक्रम किया था उस पुरुष की श्री आदि महती शोभा वर्णन करके उक्त विषय का उपसंहार किया गया है, धर्मार्थ, काम, मोक्ष, मनुष्य जन्म के इन चार फलों का अधिकरण एक मात्र वही पुरुष है जिसमें यह सहस्रों लोक लोकान्तरों वाला विश्व एकपाद स्थानी है अर्थात् उस ब्रह्म की अनन्तता में अन्तवाला है केवल रूपकालङ्कार से उसपरब्रह्म की यह निखिल जगत् शोभारूप है, इस भाव को इस मंत्र में वर्णन किया गया है ॥

श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्या वहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूप मश्विनौ व्यात्तम् । इष्णान्निषाणामुं म इषाण सर्वलोकं म इषाण ॥ २२ ॥ य० अ० ३१ ॥

अर्थ—इस मंत्र का वही सर्वोपरि अर्थ है जो श्रीस्वामीदयानन्द जी ने भूमिका में किये हैं । अर्थ—(श्रीश्चते) हे परमेश्वर आप की

अनंत शोभा रूप श्री और जो अनंत शुभ लक्षण युक्त लक्ष्मी है ये दोनों स्त्री के समान हैं अर्थात् जैसे स्त्री पति की सेवा करती है इसी प्रकार आपकी सेवा आपही को प्राप्त होती है क्योंकि आपने ही सब जगत् को शोभा और शुभ लक्षणों से युक्त कर रखा है परंतु ये सब शोभा और सत्य भाषणादि धर्म के लक्षणों से लाभ, ये दोनों आपकी ही सेवा के लिये हैं सब पदार्थ ईश्वर के आधीन होने से उसके विषय में यह पत्नी शब्द के रूपकालङ्कार से वर्णन किया है वैसे ही जो दिन और रात्रि ये दोनों बगल के समान हैं तथा सूर्य्य और चन्द्र भी दोनों आपके बगल के समान वा नेत्रस्थानी हैं और जितने ये विद्युत् अर्थात् विजुली ये दोनों मुख स्थानी हैं तथा ओठके तुल्य, और जैसा खुला मुख होता है इसी प्रकार पृथिवी और सूर्य्य लोक के बीच में जो पोल हैं सो मुख के सदृश है (इष्णन्) हे परमेश्वर आपकी दया से (अमुं) परलोक जो मोक्ष सुख है उसको हम लोग प्राप्त होते हैं इस प्रकार की कृपा दृष्टि से हमारे लिये इच्छा करो तथा मैं सब संसार में सब गुणों से युक्त होके सब लोकों के सुखों का अधिकारी जैसे होऊं वैसी कृपा और इस जगत् में मुझ को सर्वोत्तम शोभा और लक्ष्मी से युक्त सदा कीजिये यह आप से हमारी प्रार्थना है सो आप कृपा से पूरी कीजिये ॥

इससे बढ़कर और सत्यार्थ का प्रमाण क्या हो सक्ता है कि मंत्रार्थ दीपिका के कर्त्ता महामोहोपाध्याय पं: शत्रुघ्नशर्म्मा ने भी श्रीस्वामीजी के ही अर्थ का आश्रय लिया है, उव्वट महीधर सायणादि भाष्यों के ज्ञाता पण्डित भी अब सच्चाई की शरण

लेने लगे हैं अन्यथा कब सम्भव था कि डाक्टर थीवो साहब की अनुमति से बने हुए ग्रंथ में श्री स्वामी दयानन्द जी के अर्थों का भाव झलके ॥

मंत्रार्थ दीपिका पृ० ७९ में "श्रीश्चतेलक्ष्मीश्च" इस मंत्र के यह अर्थ किये हैं, हे पुरुषोत्तम ते तव श्रीलक्ष्मीश्च पत्न्यौ सह चारिण्यौ त्वामालभत इत्यर्थः चकार द्वयं तुल्य प्राधान्य ज्ञापनार्थं श्रीरैश्वर्य्यं लक्ष्मीर्धनं, यद् वशात् पुरुषो लोकानामाश्रयणीयो भवति यद् वशात् पुरुषः लोकानां वा सर्व लोकस्य लक्ष्मीर्दर्श-नीयो भवति, लक्ष दर्शनाङ्कनयोरित्यस्यरूपम् । अहो रात्रे पार्श्वे अहन रात्रीश्च पार्श्वद्वयं अहः शब्दः परब्रह्म परः तस्य विद्यात्म कत्वेन प्रकाश रूपत्वात् रात्री शब्दः संसार परः प्रकृतिपरः तस्याविद्यात्मकत्वेन प्रकाशकत्वात् एतेन धर्मार्थकामात्मकः संसारः मोक्षश्च श्री परमेश्वर पार्श्वेद्वयमित्युक्तं भवति ॥

भाषार्थ–हे परमेश्वर श्री और लक्ष्मी यह दोनों आपकी पत्नी हैं अर्थात् आपके साथ सदा रहती हैं तुम्हीं को लाभ करती हैं यह अर्थ है, और दो चकार दोनों को बराबर बतलाने के लिये हैं श्री ऐश्वर्य्य का नाम है और लक्ष्मी धनका नाम है श्री से पुरुष सब लोगों के आश्रयण करने योग्य होता है, लक्ष्मी से सब लोगों के दर्शन योग्य हो जाता है अहः और रात्री यह दोनों उस परमेश्वर के पार्श्व हैं। अह शब्द परब्रह्म का वाचक है अर्थात् प्रकाशरूप होने से विद्यारूप है अप्रकाशरूप होने से रात्रि शब्द संसार का वाचक है इससे यह सार निकला कि धर्म्म और अर्थरूप यह संसार और मोक्ष यह दोनों पदार्थ परमे-

श्वर के पास हैं यह वात कही गई ॥

क्या कोई कह सक्ता है कि यह उत्तम अर्थ स्वामी दयानन्द जी की कृपा से नहीं निकले, उब्वट महीधर तो उक्त मंत्र को सूर्य्य पक्ष में लगाते हैं और उस सूर्य्य की श्री और लक्ष्मी यह दो स्त्रियें बनाते हैं इस अनर्थ को उल्लङ्घन करने का बल महामोहपाध्याय शत्रुघ्न शर्म्मा को सामाजिक प्रकाश से मिला है जिसको इस शतक में महर्षि स्वामीदयानन्द ने प्रकाशित किया है ॥

वास्तव में इस मंत्र में पुरुष सूक्त के भाव को कैसी उत्तमता के साथ उपसंहार किया है कि हे परमात्मन् संसार के सर्व ऐश्वर्य्य आपकी शोभा हैं सब सौन्दर्य्य आपके सौन्दर्य्य हैं यह दिन और रात आपके शुक्ल कृष्ण पक्ष की शोभा दे रहे हैं, एवं विध अनन्त शोभायुक्त आप हमारी एहिक पारलौकिक बासनाओं को पूर्ण करें, इस प्रार्थना से यह सूक्त समाप्त हुआ ॥

इतिपुरुषसूक्त व्याख्या समाप्तः ॥

"सहस्रशीर्षा" के समान साकारवाद में यह मंत्र भी असाधारण समझा जाता है प्रायः साकारवादी इसे स्व स्व ग्रंथों में उद्धृत करते हैं । स्वामी बालराम ने इसे अबोध ध्वान्त में लिख कर साकार का साधन किया है, मंत्र यहहै :—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिम्पुष्टि वर्द्धनम् ।
उर्व्वारुक मिव वन्धनान्मृत्योर्मुक्षीयमामृतात् ॥
ऋ० अष्ट०५ अ०४ वर्ग० ३० ग्रन्थाङ्क २३ ।

(त्र्यम्बक) के अर्थ आधुनिक सनातन धर्म्माभिमानी यह करते हैं कि "त्र्यम्बक" तीन नेत्रों वाले शिव का नाम है उस त्रि नेत्र का पूजन इस मंत्र में लिखा है त्रि नेत्र होने से ईश्वर साकार सिद्ध हुआ ॥

संम्पूर्ण मंत्रार्थ से प्रथम हम "त्र्यम्बक" शब्द पर ही विचार करते हैं कि इसके क्या अर्थ हैं, सायणाचार्य्य इसके यह अर्थ करते हैं कि "त्रयाणां ब्रह्मा विष्णु रुद्राणां अम्बकं पितरं यजामहे" अर्थ–ब्रह्मा विष्णु रुद्र इन तीनों का पिता जो त्र्यम्बक है हम उसकी पूजा करते हैं। इसप्रकार त्र्यम्बक के अर्थ जो तीन नेत्रों वाले के किये थे यह बात सायणाचार्य्य ने ही काट दी। रही यह बात कि (अम्बक) शब्द के क्या अर्थ हैं, अम्ब गतौ धातु से यह शब्द ण्वुल प्रत्यय से बना है, "अम्बति सर्वं चिद् चिदात्मकं वस्तु जातमिति ब्रह्म:" जो सब वस्तुओं में प्राप्त हो उसे "अम्बक" कहते हैं, एवं अर्थ यह निकला कि ब्रह्मा, विष्णु रुद्र, इन तीनों का अम्बक परमेश्वर है उसे "अम्बक" कहते हैं ॥

यदि (अम्बक) के अर्थ यहां नेत्र के भी माने जायें तब भी त्र्यम्बक शब्द से साकार तीन नयन वाला रुद्र सिद्ध नहीं होता। शब्दकल्पद्रुम में इसके यह अर्थ किये हैं, "त्रिणि अम्बकानि यस्यतत् त्र्यम्बकं ब्रह्म:" जिसके सूर्य्य चांद नक्षत्रादि यह तीन नेत्र हैं वह "त्र्यम्बक" है। इस प्रकार भी विराट का अधिकरण ब्रह्म ही त्र्यम्बक शब्द का वाच्यार्थ होता है ॥

अर्थ इस मंत्र के यह हैं कि हम "त्र्यम्बक" शिव की पूजा करते

हैं जो शिव परमात्मा "सुगन्धि" जिसकी सुष्टुर्गन्धि अर्थात् यश सम्पूर्ण लोक लोकान्तरों में परिपूर्ण है और शारीरक आत्मिक सामाजिक तीनों प्रकार की (पुष्टि) उन्नति के बढ़ाने वाला है, एवं विध शिव रूप परमात्मा से प्रार्थना है कि हे परमात्मन् आप हमको मृत्युरूप बन्धन से छुड़ायें जिस प्रकार उर्व्वारुक फल स्वयं परिपक्व होकर लता से वियुक्त हो जाता है एवं हम आपकी कृपा से मृत्युरूप बन्धन से वियुक्त हों और अमृतरूप आपके स्वरूप से हम कदापि वियुक्त न हों ॥

इससे पूर्व मंत्र में भी ईश्वर से सब जीवों के कल्याण की प्रार्थना है। भेषजमसि भेषजंगवे ऽश्वाय पुरुषाय भेषजम्। सुखं मेषाय मेष्यै ॥ यजु० ३। ५९ ॥

अर्थ–हे परमेश्वर आप (भेषज) औषध रूप हैं, अश्व, पुरुष, और इनसे भी अल्पजीव मेष मेषी के लिये भी आप औषधरूप हैं अश्व पुरुषादि यहां प्राणी मात्र के उपलक्षण हैं अर्थात् आप प्राणीमात्र की पालना करने वाले हैं इससे यह सिद्ध है कि इस मंत्र में ईश्वर की उपासना की गई है और किसी मूर्त्त पदार्थ की नहीं। उब्बट महीधर ने भी इस मंत्र में कोई ननु नच नहीं की पशुमात्र के कल्याण की ही प्रार्थना है। अति गूढ़ार्थ इस मंत्र का वेदतत्व ज्ञाता कर्म्म काण्ड के आचार्य्य पं: भीमसेन जी को ही सूझा है जिन्होंने इसी मंत्र की शरण से आटे के मेष मेषी बनाकर यज्ञ में डाले, और इतना भी विचार न किया कि पशुमेध यज्ञके असन्त श्रद्धालु यह लिखते हैं कि "अनेन मंत्रेण गृह पशूनां क्षेम प्राप्तिर्भवति" अर्थ–इस मंत्र से गृहके सब पशुओं की रक्षा

होती है, तो हम क्यों नकली पशुवध से असली पशुवध की ओर लोगों की रुचि बढ़ाते हैं। अस्तु प्रकृत यह है कि उक्त मंत्र त्र्यम्बक के साकार सिद्ध करने में कोई उपयोग नहीं रखता प्रत्युत निराकार ईश्वर की सिद्धि करता है। प्रायः साकार वादियों का यह भी कथन है कि यह मंत्र रुद्रका वर्णन करता है और रुद्र को यजुर्वेद के रुद्राध्याय में साकाररूप से वर्णन किया है इस लिये "त्र्यम्बकं यजामहे" यह मंत्र तीन नेत्रों वाले साकार शिवरूप ईश्वर को वर्णन करता है? इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो यह प्रतिज्ञा ही वेदार्थ विरुद्ध है कि रुद्राध्याय जिसको दूसरे शब्दों में नमस्ते अध्याय भी कह सक्ते हैं वहां रुद्र शब्द से सर्व स्थान में परमात्मा का ही ग्रहण है जैसा कि ज्वाला प्रसाद भार्गव ने निम्न लिखित गीता के श्लोक का आश्रयण करके लिखा है, "सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टोमत्तः स्मृति ज्ञानमपोहनञ्चवेदैश्च सर्वैरहमेववेद्यो वेदान्त कृत वेद विदेव चाहम्"। गीता० ॥

अर्थ—मैं सबके हृदय में हूं मेरे से स्मृति होती है और मैं ही ज्ञान को ढ़ाप लेता हूं सब वेदों का "विद्य" जानने योग्य मैं ही हूं मैं ही वेदान्त का कर्ता हूं और वेदों का वेत्ता हूं। इस विषय की तो हम प्रथम ही मीमांसा कर आए हैं कि ऐसे श्लोकों को जहां कृष्ण जीं सबका हर्त्ता कर्त्ता अपने को मानते हैं वहां मैं शब्द से अभिप्राय ईश्वर का है, अस्तु यहां यह बात प्रकरण में अपेक्षित नहीं, अपेक्षितांश तो यह है कि क्या वेदों का विषय

ईश्वर ही है जैसा कि इस श्लोक से भार्गव जी लेते हैं वा अन्य वस्तुएं भी वेदों का विषय है ? पहले तो यह प्रतिज्ञा मुण्डकोपनिषद् के पांचवे श्लोक से ही विरुद्ध है कि वेदों में एक ईश्वर का ही वर्णन है अपराविद्या वेदों में नहीं ॥

दूसरी वात यह है जिसके विषय में सामान्य रीति से हम प्रथम भी लिख आए हैं कि रुद्राध्याय में रुद्रशब्द से सब जगह ईश्वर का ग्रहण नहीं, जहां तस्करों को नमस्कार है उसको "रुद्र" ईश्वर पक्ष में कोई भी नहीं कह सक्ता, उव्बट महीधरादि भी उन स्थलों में मौन वृत्ति से ही निर्वाह करते हैं । और जो श्री स्वामी दयानन्द जी पर यह आक्षेप किया गया है कि वह रुद्र के अर्थ राजा के मानते हैं जिस प्रकार से इस वात को कथन किया गया है यह ठीक नहीं, क्योंकि श्री स्वामीजी महाराज रुद्रशब्द के अर्थ ईश्वर के भी मानते हैं देखो सत्यार्थप्रकाश, पृ० १० तृतिया वृत्ति ॥

अव रही यह वात कि रुद्राध्याय में रुद्र शब्द के अर्थ स्वामी जी सव जगह ईश्वर के क्यों नहीं मानते ? इसका उत्तर यह है कि जहां रुद्र शब्द से ईश्वर का ग्रहण नहीं वहां स्वामी जी रुद्र शब्द को ईश्वर वाचक कैसे माने ? जैसे कि "ये भूतानामधिपतय" यजु० १६ ।५९। उव्बट महीधर भी इस मंत्र में रुद्रशब्द को ईश्वर पक्ष में नहीं लगाते किन्तु भूतों के रक्षक पक्ष में लगाते हैं जिससे क्षत्रिय राजों का आशय भी निकल सक्ता है इतना ही नहीं देखो "येतीर्थानि प्रचरन्तिसृकाहस्तानिषङ्गिणः" यजु०।१६।६१।

इसके भाष्य में उव्वट यह लिखते हैं कि "ये रुद्रा तीर्थानि प्रयाग प्रभृति प्रचरन्ति सृका हस्ता सृका इत्यायुधनाम। आयुध हस्तानिषङ्गिणः तेषामित्युक्तम्" अर्थ-जो रुद्र प्रयागादि तीर्थों में शस्त्र हाथों में लेकर विचरते हैं (निषङ्गिणः) खड्ग धारण किये हुए हैं उनके विषय में यह कहा है और यही अर्थ महीधर ने किये हैं, इन अर्थों से यह सिद्ध होता है कि आपके भाष्यकार भी रुद्र शब्द के अर्थ सब स्थानों में ईश्वर के नहीं मानते, इन भाष्यकारों के मत में रुद्र शब्द क्षत्रिय विशेष वा देव विशेष का ही वाचक नहीं अपितु कहीं २ चोर डाकू का वाचक भी रुद्र शब्द है देखो इसी अध्याय के मंत्र ६० में उव्वट लिखते हैं "चोरादयोरुद्रावा" अर्थ-अथवा रुद्र शब्द के अर्थ चौरादि हैं, अब कहिये रोदयतीति, रुद्रः-इस व्युत्पत्ति लभ्यार्थ से घबराने का क्या काम है॥

इस रुद्र शब्दार्थ विवेचन का सारांश यह निकला कि जहां साकार का वाचक रुद्र शब्द है वहां ईश्वर का वाचक नहीं, जैसे कि नमस्तेरुद्र मन्यवे उतते इषवे नमः। बाहुभ्यामुतते नमः। यजु० १६। १। अर्थ-हे रुद्र पापीजनों के दुःख देने वाले तुम्हारे क्रोध के लिये नमः हो और तुम्हारे धनुष के लिये नमः हो, और तुम्हारी भुजाओं को नमः हो, इस मंत्र में रुद्र शब्द से ईश्वर का ग्रहण नहीं किन्तु राज पुरुष का है॥ याते रुद्र शिवा तनू रघोरा पाप काशिनी। तया नस्तन्वा शान्त मया गिरिशन्ता ऽभिचाकशीहि। य० २।

अर्थ–हे रुद्र जो तेरी कल्याण करने वाली तनू है (अघोरा) जो भयानक नहीं है और पापों के दूर करने वाली है उससे आप हमको देखें "गिरिशन्त गिरिवाची स्थितः शं सुखं तनोतीति गिरिशन्त" हे गिरिशन्त हे प्रिय वाणी बोलने वाले धर्मोपदेशक हमें कृपा दृष्टि से देखें ॥

इन मंत्रो को साकारवादी कैलाशवासी शिव में लगाते हैं (गिरिशन्त) के अर्थ "गिरिकैलाशे स्थितः शं सुखं तनोतीति गिरिशन्त" गिरि कैलाश में ठहरकर जो सुखका विस्तार करे उसे "गिरिशन्त" कहते हैं यह अर्थ करते हैं (गिरिशन्त) के अर्थ उव्वटादि आचार्य्यों ने तीन किये हैं एकतो जो (गिरि) वाणी में सुख विस्तार करे दूसरे जो (गिरि) मेघ द्वारा वृष्टि से सुख विस्तार करे, तीसरे जो (गिरि) कैलाश में स्थिर होकर सुख का विस्तार करे। क्या कारण जो हमारे सनातन भाई तीनों अर्थों में कैलाशवासी के अर्थ से ही प्यार करते हैं ? हमें तो इसका कारण यही मालूम होता है कि इनका पौराणिक शिव वेद से तभी सिद्ध हो सक्ता है कि जब (गिरि) के अर्थ कैलाश के ही माने जायें, इसी कारण से दूसरे दोनों अर्थों से अरुचि की जाती है ॥

हमारे मत में तो उक्त तीनों अर्थों से कैलाशवासी ईश्वरावतार इन मंत्रों से कदापि सिद्ध नहीं होता क्योंकि "गिरि" शब्द के अर्थ पर्वतमात्र के हैं उसमें रहकर सुख विस्तार करने से यह आशय है कि जो राज पुरुष हिमालय के उच्च शिखरों पर रहते हैं वह "गिरिशन्त" शब्द के वाच्य हैं (गिरि) शब्द के अर्थ कैलाश ही

लेने में कोई प्रमाण नहीं, वाणी द्वारा सुख विस्तार करने से सत्योपदेशक और राज पुरुष ही पाए जाते हैं, एवं मेघ द्वारा से आशय यह है कि जो मेघ की वृष्टि के सम अनवरत सत्योपदेश करता है वह "गिरिशन्त" कहलाता है ॥

इस बात को स्पष्ट कर देने के लिये कि इस अध्याय में साकार ईश्वर का वर्णन नहीं, प्रत्युत शस्त्रधारी क्षात्र धर्म्म के यहां योद्धाओं का और कई एक सत्कारार्ह जन्तुओं का वर्णन है इसलिये इस अध्याय के विशेष विवादस्पद मंत्रों पर विचार करते हैं, और उन मंत्रों को यहां सभाष्य लिखकर यह सिद्ध करते हैं कि कैलाशवासी पौराणिक शिव इस अध्याय का विषय नहीं।

यामिषु गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे । शिवां गिरित्र ताङ्कुरु माहिंसीः पुरुषंजगत्॥ यजु०१६।३

अर्थ—हे (गिरिशन्त) जिस बाण को शत्रु के ऊपर फेंकने के लिये आप हाथ में धारण किये हुए हैं हे (गिरित्र) "गिरौवेद वाण्यां स्थितः स्त्रायते वैदिकानिति गिरित्र" वैदिक मर्य्यादा पुरुषोत्तम क्षत्रिय जो (गिरि) वेदवाणी की मर्य्यादा में स्थिर होकर वैदिक लोगों की रक्षा करता है वह "गिरित्र" कहलाता है। इससे वैदिक धर्म्म की मर्य्यादा में स्थिर क्षत्रिय पाया गया, एवं विध क्षत्रिय से प्रार्थना है कि हे "गिरित्र" उस बाण को आप मंगल मय करें ताकि वह बाण धर्म्मार्थ काम मोक्ष इस फल चतुष्टय वाले जगत की हिंसा न करे ॥

शिवेन वचसात्वा गिरि शाच्छावदामसि। यथा नः सर्व मिज्जगद यक्ष्मं सुमना असत्॥ यजु० १६।४॥

अर्थ—हे राज वैद्य आप (सर्व इत् जगत्) इस सब जगत् को (अयक्ष्मं) यक्ष्मारोग रहित और (सुमना) शोभन मन वाला करें हे (गिरिश) आपसे यह प्रार्थना करता हूं आप हमारा मंगल करें, इस मंत्र में केवल एक गिरिश शब्द है जिसके अर्थ गिरि कैलाश में सोने वाला करके पौराणिक लोग कैलाश बासी शिव सिद्ध करते हैं वास्तव में इसके यह अर्थ हैं कि गिरौपर्वते औषधार्थं शेते रमते, इति"गिरिश"ः। जो पर्वतों में औषधों के ढूंढ़ने के लिये, शेते के अर्थ अत्यन्त दत्तचित्त होकर रम जाने के हैं और बात यहां यह भी स्मरण रखने योग्य है कि शिव यहां बाणी का विशेषण है और मङ्गल वाचक है जहां केवल शिवं भवतु, कहा जाता है वहां अर्थ यही होता है कि मङ्गल हो, इस प्रकार केवल शिव शब्द आजाने से भी ईश्वर का ग्रहण नहीं पाया जाता, आगे के इस पञ्चम मंत्र में भिषक शब्द स्पष्ट पड़ा है जिससे इस मंत्र में भी वैद्य का अभिप्राय है॥

अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्योभिषक्। अहींश्चसर्वाञ्जम्भयन्त्सर्व्वाश्चयातुधान्योऽधराचीः परासुव॥ यजु० १६।५॥

अर्थ—वैद्यक शास्त्रवेत्ता वैद्य मुझको (अध्यवोचत्) अधिवदतु

उपदेश करें, कैसा वैद्य वैद्यक विषय उपदेश करने योग्य होता है इस बात को खोलते हैं (अधिवक्ता) जो सर्वोपरि योग्यता रखता हो, मुख्य हो, (दैव्यः) विद्वान लोगों से हित करने वाला हो (भिषक्) इस प्रकार का वैद्य निम्न लिखित उपदेश करे कि तुम लोग सांप के सदृश विष फैलाने वाले सब रोगों की निवृत्ति करो और रोग करने वाली स्त्रियों को राक्षसी के समान समझ के उनसे दूर रहो ॥

उव्वट और महीधर इसके अर्थों में और कोई विशेष भेद नहीं करते अपने मनोर्थ मात्र के माने हुए रुद्र को वैद्य मानकर इस मंत्र को लगाते हैं, मंत्र के विषय से जो वैद्य का उपदेश पाया जाता है उसको नहीं छोड़ सक्ते, इतना भेद अवश्य करते हैं कि (यातुधान्यः) के अर्थ राक्षसियों के करते हैं, अमरकोष की रीति से यातुधान नाम राक्षस का है इसी कारण इस वेदार्थ में भूत प्रेतादि के सन्देह डालरहे हैं वास्तव में "यातूनि दुखानि प्राणिषु धारयन्तीति यातुधान्यः" जो प्राणियों में दुःख उत्पन्न करें उन्हें यातुधान्यः कहते हैं। इस अर्थ से दुखोत्पादिका दुराचारिणी स्त्रियेंपाई जाती हैं। इस मुख्यार्थ को छोड़कर भूत चुड़ैल का सामान वेद में ऐसे टीकाकारों ने उत्पन्न कर दिया है ॥

असौ यस्ताम्रोऽअरुणऽउतबभ्रुः सुमङ्गलः । येचैनंरुद्राअभितो दिक्षु श्रितास्सहस्र शोवैषां हेडऽईमहे ॥ यजु० १६ ॥ ६ ॥

अर्थ—जो वह पूर्वोक्त राजा जिसका (नमस्ते रुद्र मन्यवे) आदि

मंत्रों में वर्णन आचुका है (ताम्रः) तांबे जैसे रङ्ग वाला अर्थात् राजस गुणों से रक्त वर्णवाला, अथवा कपिल वर्ण वाला, फिर वह कैसा है शोभारूप है मङ्गल जिसके, ऐसे राजा के चारों ओर रुद्ररूप वाले जो सहस्रों सैनिक पुरुष हैं उनके क्रोध को हम निवृत्त करें अर्थात् ऐसे राजा की आज्ञा से विरुद्ध कोई काम न करें जिस से वह रुष्ट हो ॥

उव्वट महीधर इन मन्त्रों को सूर्य्य पक्ष में लगाते हैं और यह अर्थ करते हैं कि इस रुद्ररूप सूर्य्य के चारो ओर जो सहस्रों किरणें हैं इनको हम भक्ति से प्रसन्न करें ॥

समीक्षक—क्या उत्तम भक्ति है, इन्हीं महात्माओं की कृपा से वेद जड़सूर्य्यादि उपासनाओं की झलक दे रहा है ॥

हमारे आधुनिक सनातनधर्म्मी भाई तो ऐसे मन्त्रों पर दृष्टि नहीं देते उदासीन दृष्टि से ही पार हो जाते हैं हां ऐसे मन्त्रों को बड़े प्रेम से स्व स्व पुस्तकों में उद्घृत करते हैं जैसा कि यह सातवां मन्त्र है इस में "नीलग्रीव" शब्द आया है इनको तो ईश्वर को साकार बनाने की लगन है और सूर्य्य चांद की उपासना से कोई प्रयोजन नहीं ॥

असौ यो ऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः । उतैनं गोपा अदृश्रन्न दृश्रन्नुदहार्य्यः सदृष्टो मृडयातिनः ॥ १६ । ७

अर्थ—वह राजपुरुष नीलमणियों युक्त कण्ठवाला और जो दुष्ट लोगों के सदैव विरुद्ध रहता है ऐसे राजपुरुष को उसके

रक्षक भृत्य सदैव दृष्टिगोचर रखें और स्त्रियें भी उसे पूज्यभाव से देखें, (सदृष्टो) इस प्रकार देखा हुआ वह सबका सुख जनक होता है अर्थात् प्रजा जब उस राज्याधिकारी पुरुष को पूज्य-भाव से देखती है तभी प्रजा सुखी रहती है यह इस मन्त्र का भाव है ॥

आधुनिक सनातन धर्म्मी इसी नीलकण्ठ शब्द के सहारे समुद्र मथन और शिवजी के विषभक्षण की कहानी का बीज वेद में बतलाते हैं, अस्तु इनके सनातनत्व खण्डन के लिये उव्वटाचार्य्य का यही लेख बहुत है (नीलग्रीवा) "नीलग्रीव इवास्तं गच्छन् लच्यते" अर्थ—सूर्य्य अस्त होते समय नीली ग्रीवा वाले के समान प्रतीत होता है, समुद्र मथन के समय शिव ने जो विष भक्षण किया उससे वह नीलकण्ठ कहलाया, इस गप्प में यदि कोई तत्व होता तो उव्वट सूर्य्य को नीलग्रीव क्यों कहता। इनको कोई पुराना आचार्य्य सहायता दे अथवा न दे पौराणिक धर्म्म का तत्व यही है कि कोई साकार विधायक शब्द मिलना चाहिये फिर क्या फिर तो पूरा २ पौराणिक भाव वेद में झलका दिया जाता है ॥

उदाहरण के लिये देखो अगले आठवें मन्त्र में "नीलग्रीव" का विशेषण "सहस्राक्ष" शब्द पड़ा है पौराणिकधर्म्मानुकूल जिसके अर्थ इन्द्र के हैं अमरकोष में सहस्राक्ष इन्द्र का नाम है और "नमुचिघ्ने नमस्ते ऽस्तु सहस्राच शचीपते" इत्यादि महाभारत के प्रमाणों से भी सहस्राक्ष इन्द्र का नाम है "सहस्रशीर्षा"

इस मन्त्र से सहस्राक्ष परमात्मा का भी नाम है कोई बहुतही खैंच करे तो परमात्मा के भाव से पौराणिक विष्णु का भी सहस्राक्ष नाम हो सक्ता है पर रुद्र का सहस्राक्ष नाम कैसे? क्योंकि इनके पौराणिक रुद्र के तो तीन ही नेत्र कथन किये गए हैं केवल यहां नीलग्रीव का विशेषण होने से सहस्राक्ष को भी रुद्र की ओर ही खेंचा है ॥

नमोऽस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे ।
अथो ये अस्य सत्वानोऽहं तेभ्योऽकरन्नमः।१६।८

अर्थ—हे सेनापते, नीलग्रीव शब्द से कहा गया है, सहस्र मनुष्यों में है अक्षि जिसकी, सर्व कार्य्य द्रष्टा होने से उसी को "सहस्राक्ष" कहा गया है (मढ़ुिष) वीर्य्य वाला, ऐसे सेनापति के लिये मैं (नमः) सत्कार करता हूं अर्थात् उसके योग्य अन्नादि पदार्थों से सत्कार करता हूं। और जो उसके भृत्य हैं उनका भी अन्नादि से सत्कार करता हूं ॥

महीधर भी इसके यही अर्थ करता है कि उस रुद्र के (भृत्य) नोकरों को नमस्कार करता हूं। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि यह राजधर्म्म प्रकरण के मंत्र हैं अन्यथा नोकरों को (नमः) से क्या तात्पर्य्य, हमारे पक्ष में तो यह कोई दोष नहीं, क्योंकि सेना पति के नौकर भी अन्नदानादिकों के योग्य हैं, पर सनातनधर्म्म पक्ष में उस रुद्र के नौकर सभी जातियों के होंगे, जिनको ब्राह्मण उनके मतके अनुसार नमस्कार नहीं कर सक्ता, इस लिये इस मंत्र में ब्राह्मण का अधिकार न रहेगा इसको कोई कहां तक

छिपा सकता है यह अध्याय साफ २ राजधर्म्म को वर्णन करता है। धन्य है श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी जिन्हों ने वेद को धर्म्मार्थ काम मोक्ष में लगाकर हमारे हिन्दू भाइयों को सरल मार्ग बतलाया, वरन सारे वेद को हमारे हिन्दू भाई तो रुद्रादि देवताओं के वर्णन विषय में ही लगाया करते थे, जैसा कि इन मंत्रों से प्रकट हो रहा है, देखो मंत्र ९ ॥

प्रमुञ्च धन्न्वनस्त्वमुभयोरात्न्योर्ज्याम्। याश्चते हस्तऽ इषवः पराता भगवोवप ॥ १६ ॥ ९ ॥

इस मंत्र के उव्वट महीधर और आजकल के पौराणिक मतानुयायी लोग सब यही भाष्य करते हैं कि (भगवः) हे भगवन् ऐश्वर्य्यादि षड्भग सम्पन्न आप धनुष के दोनों कोनों में स्थिर जो (ज्या) मौर्वी है उसको छोड़दें, और जो तुम्हारे हाथों में (इषु) वाण हैं उनको भी फैंकदें, यहां इस अर्थ को कोई भी नहीं खोलता कि बाणों के फैंकने वाला कौन है, पौराणिक रुद्र परमात्मा है वा कोई और ही भगवान् है। यहां तो ऐसे मितभाषी बनकर इस मंत्र का भाष्य करते हैं कि कुछ भी पता नहीं लगने देते, क्या यहां बाणों के हाथों से फैंकने का उपदेश इस अभिप्राय से किया गया है कि आपका रुद्र परमात्मा किसी को न मारे? अथवा किसी शत्रु पर फेंकदे? यदि पहली बात मानी जाय कि रुद्र अपने हाथों से वाण फेंककर शान्तरूप हो जाय, इस भाव का उपदेश इस मंत्र में किया गया है तो आपके रुद्र में रुद्रत्व ही क्या रहा? और यदि किसी शत्रुपर फैंकने का उपदेश किया

गया है तो उस शत्रुका नाम भी तो लेना था आपके परमात्मा का ऐसा प्रबल शत्रु कौन है जिसके वधके लिये यह सम्मति रुद्र का उपासक देरहा है? इत्यादि विकल्पों से इस मंत्रार्थ में सनातन धर्मियों के पक्ष में कोई भी सार नहीं प्रतीत होता ॥

सार हो ही कैसे जब परा अपराविद्याओं के भण्डार वेद को स्वार्थ सिद्धि के लिये रुद्रपक्ष में ही लगाया जाता है। सार यह है कि स्वामी दयानन्द सिंह के सम गर्जके इस मंत्र को क्षात्रधर्म्म में लगाता है सत्य है किसी ने सत्य कहा है सांच को आंच क्या? यथावास्थित भाव को कौन छिपा सक्ता था, देखो किस उत्तमता के भाव के साथ इस मंत्र में बीर रस भरा है ॥

अर्थ-(भगवः) हे ऐश्वर्य्य युक्त सेनापते तेरे हाथों में जो वाण हैं उनको धनुष के (ज्यां) मौर्वी में लगाकर शत्रुओं पर फैंक, और जो उनके परिहार किये हुए हैं उनको (परावप) दूरकर, भाव इस मंत्र का यह है कि जो सद्धर्म्म विरुद्ध और राजधर्म्म विरुद्ध शत्रु हैं उनको क्षात्र धर्म्मधारी योद्धा दण्ड धर्म्म से ठीक करें ॥

परमात्मा पक्ष में और रुद्र पक्ष में यह मंत्र इस लिये नहीं लग सक्ता कि परमात्मा का कोई शत्रु ही नहीं है और न उनके माने हुए रुद्र देवता का कोई शत्रु हो सक्ता है इस लिये यह प्रकरण राजधर्म्म का ही है ॥

विज्यं धनुकपर्दिनो विशल्ल्यो वाणवांउत। अनेशन्नस्य याऽइषव आभुरस्य निषङ्गधिः ।१६।१०।

अर्थ-पौराणिक रुद्र पक्ष में इसके यह अर्थ हैं कि रुद्रका धनुष

बिना इज्या के हो अर्थात् उसमें बाण चलाने का साधन जो एक प्रकार की रस्सी होती है वह ना रहे और बाण उसके विशल्य हों बिना फलके हों, और उसके शर नष्ट हो जायं (निषङ्गधिः) उसके खड्ग का जो कोष है वह खाली हो जाय अर्थात् उस रुद्र के सब शस्त्र नष्ट हो जायें। समीक्षक—क्या उत्तम प्रार्थना है भक्त होंतो ऐसे ही हों जो स्व स्वामी के प्रभुत्व के नाश की प्रार्थना करें क्यों न करें और क्या करें, जब इस अध्याय को क्षात्रधर्म्म में न लगाने की सौगन्द खा रखी है तो और उच्चार्थ कहां से लावें॥

उव्वट और महीधर भी इस पौराणिक रुद्र के भय से भयभीत होकर यही प्रार्थना करते हैं कि "रुद्र अस्मान् प्रतिन्यस्तसर्वशस्त्रोऽस्त्वित्यर्थः" रुद्र हमारे लिये सब शस्त्रों से रहित हो। और रुद्र के लिये सब शस्त्रों से रहित होने की प्रार्थना मंत्र ११ के आशय से सर्वथा विरुद्ध है क्योंकि ११वें मंत्र में शस्त्रधारी रुद्रसे पालना की प्रार्थना की गई है इस लिये इस मंत्र का अर्थ शस्त्र-नाशकी प्रार्थना का कदापि ठीक नहीं हो सक्ता। मंत्रका सत्यार्थ यह है कि (कपर्दी) जटाजूट सेनापति के (उत) यदि (अनेशन्) शस्त्रनाश हो गए हों (धनुः) धनुष इज्या से रहित हो गया हो (बाण) विशल्य फलों से रहित हो गए हों, खड्ग कोषं खड्ग से रहित होगया हो, ऐसी अवस्था में उसे सहायता देनी चाहिये यह अध्याहारार्थ है, यह अर्थ आगे के मंत्र के साथ सङ्गति रखता है॥

याते हेति मीढुष्टमहस्ते बभूव ते धनुः। तया

स्मान् विश्वतस्त्वमयक्ष्मया परिभुज ॥ १६ । ११

हे अतिशय वीर्य्य वाले सेनापते जो तुम्हारा (हेति) वज्र है और जो तुम्हारे हाथ में धनुष है इनसे (अयक्ष्मया) पराजयादिकों की पीड़ा निवृत्त करने वाली जो रक्षा है उससे हमारी पालनाकर॥

अब निम्न लिखित चार मंत्रों में राज और प्रजा का सम्बन्ध भले प्रकार दिखलाया गया है कि राजा प्रजा शासन शस्त्र से न करें किन्तु न्यायरूप राज्य शासन से करें ॥

परिते धन्वनो हेतिरस्मान् वृणक्तु विश्वतः । अथोयऽइषुधिस्तवारेऽअस्मन्निधेहितम् १६।१२

अर्थ—हे सेनापते आपका जो धनुष सम्बन्धी आयुध है (विश्वतः) सर्वतः सब ओर से (अस्मान्) हमको (परिवृणक्तु) त्यजतु, अर्थात् न मारे और जो तुम्हारा बाण है उसको भी तुम हमारे से दूर रखो अर्थात् उससे हमारा हनन कदापि न करो ॥

अवतत्य धनुष्ट्व ँ सहस्राक्षशतेषुधे । निशीर्य्य शल्यानां मुखाशिवोनः सुमना भव ॥१६।१३

अर्थ—हे सहस्रों मनुष्यों को अक्षिगोचर रखने वाले सहस्राक्ष, हे शतेषुधे, सैकड़ों धनुषों वाले सेनापते, तुम हमारे प्रति शिव कल्याणकारी (सुमना) सुष्टु मन वाले हो, इस प्रकार सुमना और कल्याणकारी आप बनें कि धनुष की (ज्या) गुणको उतार दें और बाणों के जो (मुख) फल हैं उनको भी हिंसा रहित करदें । भाव इस मंत्र का यह है कि जब प्रजा के साथ

राजा का स्व स्वामी भाव सम्बन्ध हो जाता है उस समय राजा उस प्रजा पर शस्त्रों से काम न ले, किन्तु न्याय से शासन करे। और वह प्रजा भी निम्न लिखित मंत्र के आशय के अनुकूल उस राजा से वर्त्ते ॥

नमस्ते आयुधायानातताय धृष्णवे। उभाभ्यामुततेनमो बाहुभ्यान्तवधन्वने ॥ १६ । १४

हे राजन् तुम्हारे आयुध को (नमः) सत्कार है, कैसा वह आयुध है जो शत्रुओं के धर्षण करने के स्वभाव वाला है और तुम्हारी दोनों भुजाओं के लिये (नमः) सत्कार है तुम्हारे अनारोपित ना तने हुए धनुष को (नमः) है अर्थात् तुम आज्ञाशील प्रजा के लिये अपने धनुष को नहीं चढ़ाते किन्तु राज धर्म्म विरोधी लोगों के लिये ही स्व शस्त्रों का उपयोग करते हो, इस प्रकार के आप और आप के शस्त्रों को पुनः पुनः (नमः) हो। आदर का अतिशय द्योतक यहां नमः शब्द है, अर्थात् बारंबार (नमः) हो ॥

मानो महान्तमुतमानोऽर्भकमान उक्षन्त मुतमा नऽउक्षितम्। मानोवधीः पितरम्भोत मातरम्मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः ॥ १६ । १५

अर्थ—हे शत्रुवर्ग के रुलाने वाले (रुद्र) सेनापते, आप हमारी जाति के महापुरुषों को मत मारो, और अर्भक जो बच्चे हैं उनको भी मत मारो, जो तरुण पुरुष हैं जिनके अभी सन्तति नहीं हुई

और जो गर्भस्थ बालक हैं उनको तथा माता और पिता को मत मारो, स्त्री पति के शरीर को न नाश करें, जो आगामी पुत्र पौत्रादि सन्तति का हेतु है, हे (रुद्र) उक्त पुरुषों के (त्वं) (मारीरिष) मत मारो, इस मंत्र में क्षात्रधर्म्म के लिये हनन का भी एक नियम बांध दिया है कि अमुक २ पुरुषों को हनन नहीं करना, जैसाकि यूरपादि सभ्य जातियों के राजा अब भी इन नियमों को मानतें हैं। ऐसी २ उत्तम शिक्षाएं यह सिद्ध करती हैं कि यह क्षात्र धर्म्म शिक्षा का प्रकरण है, पौराणिक, रुद्र का इस में गन्धमात्र भी नहीं पाया जाता। क्योंकि यहां नाना प्रकार के शस्त्रों का वर्णन और सेना सेनापतियों का वर्णन पाया जाता है और पौराणिक रुद्र को सेना शस्त्रादिकों की क्या आवश्यकता है जबकि वह स्वयं ईश्वर है तो उसको शस्त्र सेनादि से क्या?

यदि यह कहा जाय कि साकारवादियों के मत में ईश्वर के शस्त्रधारी होने में कोई दोष नहीं, जैसे कि रामचन्द्रादि धनुष-धारी हुए हैं? इस का उत्तर यह है कि जो रामचन्द्रादि के समान साकार रुद्र माना गया है वह तो पौराणिकों के मत में ब्रह्मा का पुत्र हुआ है उत्पन्न होते ही रोने के कारण ब्रह्माजी ने उस का नाम रुद्र रखा था॥

तदा प्राणमयो रुद्रः प्रादुरासीत् प्रभोर्मुखात्। सहस्रा दित्य सङ्काशो युगान्त दहनोपमः॥ रुरोदसुस्वरं घोरं देवदेवः स्वयंशिवः। रोदमानं तदा ब्रह्मा मारोदीरित्य

भाषत। रोदनाद्रुद्र इत्येवं लोके ख्यातिं गमिष्यसि ॥ कू॰ पु॰ अ॰ १० ॥

फिर कूर्म्म पुराण अध्याय १३ में रुद्र की उत्पत्ति इस प्रकार है, भ्रुवोर्मध्यादथोद्भूतः कुमारो नील लोहितः। जातमात्रः कुमारोऽसौ रुरोद भगवान् भवः। ब्रह्मोवाच कथं पुत्र रोदिषित्वं महाबल तन्मेकथन कामन्ते सद्यः सम्पादयाम्यहम्॥ अर्थ—पूर्व प्रकरण यह था कि ब्रह्मा ने सृष्टि उत्पत्ति करने के लिये बहुत तप किया, और कुछ भी उत्पन्न न हुआ तब ब्रह्मा जी की आंखों से जो आंसू निकले उनसे भूत प्रेत सब उत्पन्न हुए, ब्रह्मा जी ने सृष्टि रचने में जब सफलता लब्ध की, (तदा) उस समय ब्रह्मा जी के मुख से प्राणमय रुद्र उत्पन्न हुआ, जिसकी सहस्रों सूर्य्यों के समान शोभा थी युगों के अन्त में सर्व वस्तुओं के दाह करने के लिये जो पौराणिकधर्म्म में अग्नि मानी गई है उसके समान दाह करने वाला वह रुद्र था। फिर वह रुद्र स्वर के साथ एक बड़ा भारी भयानक रोना रोने लगा, वह देवों का देव जो सदा से शिव था, उस समय उस रोने वाले रुद्र को ब्रह्मा ने कहा कि तू मत रो, रोने के कारण तेरा नाम लोक में रुद्र विख्यात होगा॥

फिर उसी कूर्म्म पुराण अध्याय १३ में यह वर्णन है कि ब्रह्मा जीकी भ्रुवों के मध्य से एक कुमार जिसका वर्ण कुछ काला और लाल था उत्पन्न हुआ, वह कुमार उत्पन्न होते ही रोने लगा, तब ब्रह्माजी ने कहा कि पुत्र तू क्यों रोता है जो तेरी इच्छा हो

सो तू कह मैं तत्क्षण सब सम्पादन करदूंगा। हमारा यहां पुराणों की परस्पर विरुद्ध वातों के दर्शाने में तात्पर्य्य नहीं कि कहीं ब्रह्मा जी के मुख से रुद्र उत्पन्न हुए और फिर उसी पुराण में ब्रह्मा ज़ी के भ्रकुटी मध्य से रुद्र उप्पन्न हुए, इस प्रकार के विरोध पुराणों में सर्वत्र स्पष्ट हैं, फिर पुनः पुनः उनका पिष्ट पेषण क्या। हमारा तात्पर्य्य तो यहां इस वात के दिखलाने में है कि साकार रुद्र ब्रह्मा का पुत्र माना गया है उसका वर्णन यजुर्वेद के षोड़-शाध्याय में मन्द से मन्द मति भी नहीं मान सक्ता, क्योंकि इन पौराणिक धर्म्मावलम्बियों के मत में वेद ब्रह्मा जीके प्रकाश किये हुए हैं और वह ब्रह्मा ही सव से प्रथम पौराणिक धर्म्म में माना गया है फिर उसके पुत्र रुद्र का वर्णन वेद में कैसे सम्भव था ॥

और इस स्वयं रोने वाले रुद्र को वेद भगवान् वर्णन करता तो इससे सिद्ध भी क्या होता। और सव सनातन धर्म्मी इस बात को स्वीकार भी नहीं करते कि वेदोपनिषदों में इस ब्रह्मा के पुत्र स्वयं रोने वाले रुद्र का वर्णन है किन्तु यह स्वीकार करते हैं कि जो परमात्मा रुद्र रूप होकर दुष्टों को कर्म्म फल भुगाकर रुलाता है वह रुद्र है। पं॰ ज्वालाप्रसादमिश्र ने तिमिर भास्कर पृ० ३ "स ब्रह्मा स विष्णु सरुद्रः" इस उपनिषद् के अर्थ करने में रुलाने वाले का नाम ही रुद्र माना है जव यह माना गया कि दुष्टों को कर्म्मफल भुगाकर रुलाने वाले परमात्मा का नाम रुद्र ह तो स्वयं रोने वाला ब्रह्मा जीके मुख वा भ्रकुटी से उत्पन्न होने वाला साकार रुद्र वेदोपनिषदों का विषय न रहा, और जो यह कहा जाता है कि वह परमात्मा रूप रुद्र जो लोगों को कर्म्म

फल भुगाकर रुलाता है उसी का नमस्ते अध्याय में वर्णन है यह विचार सर्वथा निर्मूल है, इस बात का हम उव्वटादि आचार्य्यों की सम्मति से पहले भी समाधान कर आए हैं कि ऐसे अर्थों में भी इस रुद्र शब्द का वर्ताव इस अध्याय में आया है कि जिसको कोई भी ईश्वर के अर्थ में नहीं लगा सक्ता, फिर जो साकाररूप रुद्रों का अनेक रूपों से वर्णन इस अध्याय में पाया जाता है इससे क्षात्र धर्म्म के योद्धाओं का वा उनके साधन भूत अन्य जन्तुओं का वर्णन इस अध्याय में है, जैसा कि "नमो हिरण्य बाह्व" इत्यादि मंत्रों में हिरण्य के आभूषण युक्त बाहु वाले क्षत्रियों का वर्णन स्पष्ट है ॥

"याते रुद्र शिवा तनूः" इस मंत्र से रुद्र का शरीर सिद्ध करने के लालच से जो इस अध्याय के रुद्र शब्द को ईश्वर पक्ष में लगाते हैं उनके लिये यह मंत्र बहुत कठिन हो जाता है "नमः श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च" इस मंत्र के उव्वटादि आचार्य्यों ने यह अर्थ किये हैं कि जो कूकरादि रूप रुद्र है उसको भी नमस्कार है, और जो उनके पति नीच जाति के निषादादि हैं उनको भी नमस्कार है, अस्तु ऐसे साकार वाद से हमको क्या हानि है इससे तो यही सारांश निकला कि इस अध्याय का रुद्र शब्द ईश्वर का वाचक नहीं, फिर ऐसे रुद्र की शरीर सिद्धि से ईश्वर के शरीर की सिद्धि कैसे ? ॥

यह हम आगे भी अनेक वार लिख आए हैं कि साकारवाद के रसिकों को थोड़ा बहुत साकार का रास्ता मिलना चाहिये

फिर तो उसको किसी न किसी प्रकार के परिष्कार से विस्तार अपने आप यह कर लेते हैं जैसे कि

एह्यस्मानमातिष्ठअश्माभवतुतेतनूः । कृरावन्तु विश्वेदेवा आयुष्टे शरदः शतम् ॥ अथर्व का० २ अ० ३ सू० १३

अर्थ–हे माणवक एहि आगच्छ। अश्मानम् आतिष्ठ दक्षिणेन पादेन आक्रम । तेतव तनूः शरीरम् अश्माभवतु। अश्मवद् । रोगादि विनिर्मुक्तंदृढ़ं भवतु । विश्वे देवाश्च ते तव शत संवत्सर परिमितम् आयुः कृण्वन्तु कुर्वन्तु "युष्मत्तत तक्षुष्वन्तः पादम्" इति सकारस्य षत्वम् ॥

इस सायण भाष्य का आशय यह है कि हे ब्रह्मचारिन् तुम यहां आओ और अपना दक्षिण पैर इस पत्थर के ऊपर रखो तुमारा शरीर इस पत्थर की तरह रोग रहित और दृढ़ हो ॥

"और आधुनिक सनातन धर्म्मी इसके यह अर्थ करते हैं कि हे इष्टदेव पाषाण मूर्त्ति में विराजमान हूजिये, पाषाण मूर्त्ति आपका शरीर हो, सब देवता इस आपके शरीर की आयु अनन्त वर्षों की करें"। तिमिर भास्कर पृ० ३६७ वास्तव में यह मंत्र समावर्त्तन अर्थात् जब ब्रह्मचारी गुरुकुल से लौटकर स्वगृह में आता था उस समय का है, इसमें यह उपदेश है कि हे ब्रह्मचारिन् आप इस पाषाण पर पैर रखें और आपका शरीर इस पाषाण के समान कठिन हो। इस प्रकरण की किञ्चिन्मात्र भी अपेक्षा न

करके प्राण प्रतिष्ठा में लगाकर इस मंत्र के अनर्थ कर दिये हैं ॥

एवं अथर्ववेद में जहां राजयक्ष्मा रोग की निवृत्ति का प्रकरण है और रोगी के अंगों का वर्णन है उन मंत्रों के अनर्थ करके आधुनिक सनातन धर्मियों ने ईश्वर के अंग वर्णन में लगा दिये जैसेकि–

अङ्गे अङ्गे लोम्नि लोम्नि यस्ते पर्वणि पर्वणि । यक्ष्मंत्वचस्यं तेवयं कश्यपस्य वीबर्हेण विष्वञ्चं विवृहामसि ॥ ७ ॥ अथर्व कां० २ अ० ६ सू० ३४

सायण भाष्य इसका यह है । इत्थं प्रसिद्धा वयवेभ्यो रोगस्यापनोदनं (प्रतिपाद्य अप्रसिद्धा वयवेभ्योपि अपनोदनं) प्रतिपाद्यते हे रुग्ण ते तव अङ्गे अङ्गे अनुक्तेषु सर्वेष्व वयवेषु लोम्नि लोम्नि सर्वेषु रोमकूपेषु पर्वणि पर्वणि सर्वेषु संधिषु यो यक्ष्मोजातः । "नित्यवीप्सयोः" इति सर्वत्र द्विर्वचनम् । तं यक्ष्मं विवृहामसीत्युत्तरत्र संबन्धः । अर्थ–इस प्रकार प्रसिद्ध अवयवों से रोग की निवृत्ति कथन करके अप्रसिद्ध अवयवों से भी रोग की निवृत्ति प्रतिपादन की जाती है, हे रुग्ण तेरे सब अंगों में और रोम२ में और संधि२ में जो यह यक्ष्मा रोग है उसको हम कश्यप परमात्मा का सूक्त पढ़के उस रोग की निवृत्ति की प्रार्थना करें ॥

यह आशय इस मंत्र का था जिसके अनर्थ करके परमात्मा को रोगी बनाकर साकार वर्णन किया जाता है । इस प्रकार साकार वाद की धुन में लगकर आधुनिक लोगों ने वेदों के अनर्थ

कर दिये हैं कहांतक लिखें देखो—

दृते दृꣳहमा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् । मित्रस्याहञ्चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ यजु० अ० ३६ मं० १८ ॥

इस मंत्र के अनर्थ करके पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने मूर्तिपूजा में लगाया है तिमिर भास्कर पृ० ३६७ ॥

जहां ऐसे स्पष्ट मंत्रों का आशय वदल दिया जाता है वहां सत्यार्थ की क्या आशा हो सक्ती है उक्त मंत्र "द्यौ शांतिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः" इस मंत्र से आगे है, इस मंत्र में शान्ति की प्रार्थना करने के अनन्तर "दृते दृꣳहमा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्' इस में सब से मित्रभाव की प्रार्थना की गई है, और उव्वट महीधर ने भी इस मंत्र को मित्रभाव की प्रार्थना में लगाया है इसमें ईश्वर के मूर्त्ति होने का गंधमात्र भी नहीं पाया जाता, श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती इसके यह अर्थ करते हैं, "दृते दृꣳह" इस मंत्र का अभिप्राय यह है कि सब लोग आपस में सब प्रकार के प्रेमभाव से सब दिन वर्त्तें, और सब मनुष्यों को उचित है कि जो वेदों में ईश्वरोक्त धर्म्म है उसी को ग्रहण करें और वेदरीति से ही ईश्वर की उपासना करें कि जिससे मनुष्यों की धर्म में ही प्रवृत्ति हो, "दृते०" हे सब दुखों के नाश करने वाले परमेश्वर आप हम पर ऐसी कृपा कीजिये

कि जिससे हम लोग आपस में वैर को छोड़के एक दूसरे के साथ प्रेमभाव से वर्त्तें, (मित्रस्य मा०) और सब प्राणी मुझको अपना मित्र जानके बंधु के समान वर्त्तें ऐसी इच्छा से युक्त हम लोगों को "दृंह" सत्य सुख और शुभ गुणों से सदा बढ़ाइये "मित्रस्याहं०" इसी प्रकार से मैं भी सब मनुष्यादि प्राणियों को अपने मित्र जानूं और हानि लाभ सुख और दुःख में अपने आत्मा के सम ही सब जीवों को मानूं "मित्रस्य च०" हम सब लोग आपस में मिलके सदा मित्रभाव रखें और सत्य धर्म्म के आचरण से सत्य सुखों को नित्य बढ़ावें, जो ईश्वर का कहा धर्म है। यही एक सब मनुष्यों को मानने के योग्य है ॥ ८ ॥

जिस परमेश्वर की साकारता की सिद्धि के लिये वेदों का अनर्थ करके वादियों ने स्वमन्तव्य सिद्ध किया है वास्तव में उस जगदीश्वर को वेद भगवान् इस प्रकार वर्णन करता है कि-

यस्ये मे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः। यस्ये मांप्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ यजु० अ० १२ मं: ५ ॥

अर्थ-पूर्व प्रकरण से यह प्राप्त है कि मैं किस देव के लिये हविष दान करूं अर्थात् हवन यज्ञ से किसकी उपासना करूं, इसके उत्तर में यह है कि जिस परमात्मा के महत्व को हिमालय आदि पर्वत कथन करते हैं और नदियों के साथ समुद्र जिसकी महिमा को गायन करते हैं और जिस परमात्मा के यश को

पूर्वोत्तरादि दिशाएं कथन करती हैं जगत् की रक्षारूप ही जिस की भुजा हैं यह सब जगत् जिस परमात्मा की विभूति है उसकी हम हवन यज्ञ से उपासना करें ॥

येनद्यौरुग्रा पृथिवी च दृढ़ायेन स्वस्तभितं येनना कः। योऽन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ यजु० अ० ६ मं० ३२ ॥

जिस परमात्मा ने "द्यौ" लोक को वृष्टि देने वाला बनाया है और जिसने अपनी नियम रूप शक्ति से पृथिवी को दृढ़ बनाया है जिस परमात्मा ने सूर्य्य मण्डलादि सब थाम रखे हैं, जिसने अन्तरिक्ष में "रजस" जलमय विमान रच रखे हैं ऐसे देव की हम हवन यज्ञ से उपासना करें। इत्यादि मंत्रों से निराकार ईश्वर की महिमा सर्ववादी सम्मत है, हमारे सनातन भाइयों के उव्वट महीधरादि आचार्य्य भी उक्त मंत्रों को निराकार विषय में ही लगाते हैं ॥

एषोह देवः प्रदिशोनु सर्वः पूर्वोहजातः स उ गर्भे अन्तः। स एवजातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति विश्वतो मुखः ॥ यजु० ३२। ४

इस मंत्र के अर्थों में महीधर यह लिखता है (सर्वतोमुखः) "सर्वतो मुखाद्यवयव यस्य अचिन्त्य शक्तिरित्यर्थः" "सर्वतो मुखः" के अर्थ यह हैं कि सब ओर मुखादि अवयव

हों जिसके अर्थात् वह परमात्मा अचिन्त्य शक्ति वाला है, यह (सर्वतोमुखः) के अर्थ किये हैं। तत्व यह निकला कि यहां सब ओर मुखादि अवयवों को वास्तव नहीं माना किन्तु अचिन्त्य शक्ति वाला होने के अभिप्राय से माना है॥

कई एक लोग उक्त मंत्र के "स उ गर्भेअन्तः" आदि शब्दों से यह भाव निकालते हैं कि वही परमात्मा माता के गर्भ में प्रविष्ट होकर उत्पन्न होता है। ऐसे अर्थ करना पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र के "येनद्यौ रुग्रा पृथिवी च दृढ़ा" के अर्थों का अनुकरण करना है। आप लिखते हैं कि स्वामी जी तो पृथिवी का भ्रमण मानते हैं और इस मंत्र में "पृथिवी च दृढ़ा" इससे यह पाया जाता है कि वेद में पृथिवी का दृढ़ होना अर्थात् ना घूमना पाया जाता है, इसी प्रकार "सउ गर्भे अन्तः" का अर्थ माता के गर्भ में उत्पन्न होने का किया गया है॥

यह लोग वेदों के अनर्थ करते समय इतना भी नहीं सोचते कि दृढ़ा के अर्थ तो यह है कि पृथिवी विना किसी स्थूल आधार के स्थिर बनाई है इस अभिप्राय से पृथिवी के लिये दृढ़ा शब्द आया है, एवं (गर्भेअन्तः) का अभिप्राय यह है कि वह परमात्मा पृथिव्यादि लोक लोकान्तरों के (गर्भ) मध्य में (अन्तः) अन्तर्गत है अर्थात् प्रविष्ट है, यह अभिप्राय इस शब्द का था जो मंत्र के आशय से सर्वथा अन्यथा वर्णन किया गया है॥

यदि यह कहा जाय कि इस मंत्र में "स एव जातः" और "जनिष्यमाणः" यह दो पद पड़े हैं जो उत्पन्न हुए और उत्पन्न

होने वालों का सिद्ध करते हैं, तो इस का उत्तर यह है कि यह पद भूत भविष्यत काल में उस पुरुष की सत्ता का बोधन करते हैं न कि उत्पत्ति को, यदि उक्त पद परमात्मा के गर्भवास को बोधन करते तो "यस्मान्नजात:" इस अग्रिम मंत्र में परमात्मा की उत्पत्ति का निषेध न किया जाता ॥

जिन लोगों को स्व मन्तव्यरूपी आग्रह का मद है, वा अहं ब्रह्म वाद का मद है, उन लोगों की दृष्टि में उक्त विरोध नहीं आता जैसे कि उव्वट ने "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत्" यह कह कर इस पूर्वोक्त विरोध का ध्यान न धरकर "स उ गर्भे अन्त:" के अर्थ माता के गर्भ में आने के कर दिये हैं, जिन लोगों के मत में यह सब दृश्य ब्रह्म ही है उनके मत में परमात्मा का गर्भवास पाना क्या दोष की बात है ? पर यहां यह स्मरण रहे कि इन मंत्रों का तात्पर्य्य सर्व ब्रह्मवाद में कदापि नहीं, यदि नवीन वेदान्तियों के अद्वैतवाद में उक्त मंत्रों का तात्पर्य्य होता तो "प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सर्वतोमुख:" यह न कहा जाता, इसके अर्थ यह हैं कि हे जना हे पुरुषो वह परमात्मा "प्रत्यङ्" प्रति पदार्थमञ्चतीति प्रत्यङ्, परमात्मा प्रत्येक पदार्थ में व्यापक है एवं व्याप्य व्यापक का भेद उक्त मंत्र बोधन करता है ॥

और तर्क यह है कि इस मंत्र से पूर्व "नतस्य प्रतिमास्ति" यह मंत्र है यदि सब कुछ ब्रह्म था तो इस मंत्र में परमात्मा की प्रतिमा का निषेध क्यों किया जाता । कई एक लोग इस मंत्र के

यह अर्थ करते हैं कि उस परमात्मा के तुल्य कोई नहीं, इस अभिप्राय से यहां प्रतिमा का निषेध किया गया है, एवं परमात्मा के उपमान का निषेध है उसकी मूर्त्ति का निषेध नहीं, इस अनर्थ की निवृत्ति के लिये हम इस प्रकरण के मंत्रों को लिखकर उक्त मंत्र का अर्थ करते हैं। प्रकरण यह है यजुर्वेद अध्याय ३२ मं १॥

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तद् चन्द्रमा। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्मताआपःस प्रजापति। यजु०अ० ३२ मं०१

अर्थ—सर्व वस्तुओं में अग्रणी होने से उस परमात्मा का नाम अग्नि है, आदित्यवत् तेजस्वी होने से परमात्मा का नाम आदित्य है, सर्व में गतिशील होने से वह परमात्मा वायु नाम से कहा जाता है, सबके मनका आह्लादक होने से वह चन्द्रमा है बलरूप होने से परमात्मा शुक्र है, सब वस्तु मात्र से बृहत् होने से परमात्मा ब्रह्म है, उक्त विशेषण विशिष्ट परमात्मा अग्न्यादि नामों से इस मंत्र में वर्णन किया गया है। पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र तिमिर भास्कर पृ० ३२४ में इस मंत्र के यह अर्थ करते हैं कि वही ईश्वर अग्नि है और वोही आदित्य रूप है वायु चन्द्र संसार का बीज प्रसिद्ध जल प्रजापति आदिरूप उसी का है, अब निराकार को वेद ही कहता है कि वही ईश्वर अग्न्यादि रूप वाला है और आदित्य का आकार भी दीखता है इत्यादि अर्थों से स्पष्ट सिद्ध है कि पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने भौतिक अग्नि सूर्य्यादि पदार्थों को ईश्वर माना है। हम यहां और क्या कहें यही कहना पड़ता है कि उक्त पं० साहब को ईश्वर के साकारवाद के लालच ने

सनातन पथ से भुला दिया अन्यथा सनातन सम्प्रदाय के विरुद्ध जड़ सूर्य्यादिकों को ईश्वर कदापि न मानते ॥

देखो शंकर दिग्विजय प्रकरण १३ इसमें "भीषास्मात् वातः पवते भीषोदेतिसूर्य्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः" इस उपनिषद के वाक्य से सूर्य्यादिकों की गति परामात्मा की भयरूप आज्ञा से कथन की गई है, अर्थ यह है कि उस परमात्मा के भय से अग्नि वायु सूर्य्य इन्द्र और मृत्यु यह सब दौड़ते हैं फिर ऐसा औपनिषद् परमात्मा जड़ सूर्य्यादि रूप कैसे हो सक्ता है ॥

इतना ही नहीं फिर दिग्विजय के इसी प्रकरण में यह प्रमाण है "न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्र तारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्व मिदं विभाति" अर्थ—न वहां सूर्य्य प्रकाश कर सक्ता है न चन्द्र और तारे और न यह विद्युत विजली प्रकाश करती है "कुतोऽयमग्नि" वहां अग्नि का तो कथन ही क्या? उसी परमात्मा के प्रकाश से यह सब पूर्वोक्त पदार्थ प्रकाशित होते हैं औपनिषद् दर्शन इस प्रकार अतिवल पूर्वक उस परमात्मा को इस जड़ जगत् का प्रेरक सिद्ध करता है और ऐसा व्यतिरेक दिखलाता है कि बालक तक भी उस परमात्मा के भेद को समझ जाय, फिर न जाने यह नाम के सनातनी साकार ईश्वर के साथी क्यों इस भेद को नहीं समझते ॥

इतना वलप्रद उपदेश केवल औपनिषद् दर्शन में ही नहीं

किन्तु वेद संहिता में इससे भी अधिक बल से यह उपदेश किया गया है कि परमात्मा सूर्य्यादि जड़ जगत् का जनक है

चन्द्रमा मनसो जातः चक्षोः सूर्य्यो अजायत ।
श्रोत्रात् वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥
य० अ० ३१ । १२

इस मंत्र में चन्द्रमा सूर्य्य वायु और अग्नि की उत्पत्ति परमात्मा से मानी है जब यह सूर्य्यादि उस परमात्मा के कार्य्य हैं तो पंः ज्वालाप्रसाद मिश्र किस अधिकार से "तदेवाग्नि" इस मंत्र के आशय को विगाड़कर यह लिखता है कि यह अग्नि सूर्य्यादि परमेश्वर हैं यह अर्थ करके वेद भगवान् को कलङ्कित करता है ॥

और बहुत क्या कहें यदि वेद के भेद की इस वादी को आंख होती तो "सर्वे निमेषा जज्ञिरे" इस अगले मंत्र पर दृष्टि डालता, इस मंत्र में इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि परमात्मा निराकार होने के कारण से स्थूल इन्द्रियों से ग्रहण होने योग्य नहीं, इसी आशय को लेकर उव्वट महीधरादि आचार्य्य इस मंत्र पर यह लिखते हैं कि "नह्यसौ प्रत्यक्षादीनां विषयः" वह परमात्मा प्रत्यक्षादि से नहीं विषय किया जा सक्ता किन्तु केवल शब्द प्रमाण गम्य है। यह आशय इस भाष्य की प्रतीक का है, इसी का उपबृंहण उव्वटादिकों ने इस उपनिषद वचन से किया है कि "एषः नेति नेत्यात्मा" अर्थ-यह है कि वह परमेश्वर नहीं जिसको तुम स्थूल आंखो से देख रहे हो। यह अर्थ उपनिषदों

के सहस्र प्रमाणों से स्पष्ट है फिर किस मुख से कल्पित कल्पतरुकार यह कहता है कि आदित्य का आकार भी दीखता है फिर निराकार कैसे ?

इस आशय को हम और भी दृढ़ता से निम्नलिखित मंत्र से खण्डन करते हैं।

सर्वेनिमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि। नैनं मूर्ध्वन्न तिर्यञ्च न मध्ये परि जग्रभत् ॥य० अ० ३२ मं० २ ॥

अर्थ—जो परमात्मा अग्न्यादि नामों से वर्णन किया गया है उस परमात्मा से सब (निमेष) काल के अल्प भेद का नाम निमेष है अल्पकालादि भेद, और उसी परमात्मा पुरुष के प्रकाश से (विद्युतः) विजलियें उत्पन्न हुईं, एवं विध सब वस्तुओं के कारण रूप परमात्मा को कोई पुरुष ऊपर नीचे और मध्य में पकड़ नहीं सक्ता, "न मध्ये परिजग्रभत्" इस कथन से वेद भगवान् ने इस वात को स्पष्ट करदिया कि परमात्मा देव निराकार है इसलिये वह अग्राह्य हस्तादि इन्द्रियों से ग्रहण नहीं किया जा सक्ता, इस मंत्र के अर्थ उव्वट महीधर भी यही करते हैं और स्वामी शङ्कराचार्य्य भी इस मंत्र के यही अर्थ करते हैं कि वह परमात्मा अमूर्त्त होने से अग्राह्य है ॥

परमात्मा के इस मंत्र में इस प्रकार अग्राह्य होने को कट्टर साकार वादी जो साकार के साथ सनातन धर्म्म का एक मात्र श्वासवत् जीवन मानते हैं वह भी इस मंत्र के अग्राह्य भाव को

छोड़ नहीं सकते. देखो तिमर भास्कर पृष्ठ ३३९ में पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र इस मंत्र का अर्थ करते हुए यों डगमगाते हैं। "स्वयं ज्योति स्वरूप पुरुष में सब ही निमेषादिरूप खण्ड काल उत्पन्न होता भया और इस पूर्ण पुरुष को (उर्ध्व वा तिर्य्यञ्च) चारों दिशाओं वा मध्य में कोई ग्रहण नहीं कर सक्ता, सर्व का कारण होने से आशय यह है कि पूर्व मंत्र में अग्नि आदि-भाव कहने से ग्राह्यता प्रसक्ति का निवारण कर दिया, अवास्तव स्व शक्ति निर्मित अग्नि आदि भाव से वास्तव ग्राह्यत्व-कारणात्मा में नहीं हो सक्ता॥

यों तो यह भाषा रचना में ऐसी रम्य है कि स्यात्, गहरा गोता लगाने पर भी किसी २ पुरुष को ही स्व अर्थ रूपी अब्धि से पार होने देती हो, पर हमें क्या हमने तो यह स्पष्ट दिखला देना है कि इस अर्थ में सनातन कल्पतरुकार कितने लटपटाए हैं, फिर भी स्व सङ्कल्प पूर्ण नहीं हुआ। आप लिखते हैं कि (उस पुरुष को कोई चारों दिशाओं में ग्रहण नहीं कर सक्ता सर्व कारण होने से) यहां हम पूछते हैं कि सर्व कारण होना जो आपने अग्राह्य होने का हेतु लिखा है तो प्रकृति भी तो सर्व कारण है वह अग्राह्य क्यों नहीं? यदि सर्व कारण से आप का तात्पर्य्य निमित्त कारण से है तो आप का साकार ईश्वर आप के मत में सब वस्तु का निमित्त कारण होने पर भी इन्द्रिय ग्राह्य नहीं। पर यह बात ही क्या कि सर्व कारण होने से इन्द्रियग्राह्य नहीं, अग्राह्यता का हेतु तो अमूर्त्तत्व है नाकि कारणत्व, पर आपको क्या आपने तो इस हेतु हेतु मद्भाव की प्रणाली से दूर

रहने का प्रण ही बांध छोड़ा है फिर इस के बन्धन में आप को कौन डाले ॥

और जो आपने इस मंत्र का यह आशय कथन किया है कि "तदेवाग्निस्तदादित्यः" इस पूर्व मंत्र से अग्न्यादिरूप कथन किये जाने से जैसे भौतिक अग्नि आदिकों का ग्रहण किया जा सक्ता है, अर्थात् सब स्थानों में पकड़े जा सक्ते हैं, परमात्मा अग्न्यादि रूप कहे जाने से यह आशङ्का परमात्मा में प्रसक्त हुई। इस आशङ्का का अवास्तव अग्न्यादि भावों से परमात्मा में वास्तव ग्राह्यत्व नहीं होता यह उत्तर दिया, क्यों कृपानिधे यह क्या? यहां नाक को उलटाकर हाथ लगाने का अनुकरण आप क्यों कर गए, इतनी क्या आपत्ति पड़ी थी जो सनातनी लोगों के सारे साकार बाद को अवास्तव कहकर मिटागए, पर और क्या करते इस मंत्र का तो और अर्थ होही नहीं सक्ता, यहां अन्तर्ध्यान होकर सोचने का स्थान है कि जब यह मंत्र यह कहता है कि परमात्मा देव अग्राह्य अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियों का विषय नहीं तो इससे आगे (नतस्यप्रतिमास्ति) इस मंत्र के क्या अर्थ हो सक्ते हैं। यों तो आज कल की कलयुगी बुद्धियें इस मंत्र के कई प्रकार के अर्थ करती हैं कोई नतस्यप्रतिमास्ति के अर्थ यह करता है कि "नतस्य" नम्रस्य अर्थात् सबको झुकने वाला जो परमेश्वर है उसकी प्रतिमा है। कोई यह कहते हैं कि यह ध्वनि है जैसे कोई कहता है कि (अयन्नब्राह्मणः) यहां न के अर्थ निषेध के नहीं होते किन्तु यह होते हैं कि क्या यह ब्राह्मण नहीं अर्थात् है इस प्रकार नतस्य के अर्थ यह हैं कि तस्य परमेश्वरस्य उस

परमेश्वर की न प्रतिमास्ति? क्या उस परमेश्वर की प्रतिमा नहीं; अर्थात् है, एवं अनन्त अनर्थ किये जाते हैं, जो (यस्मान्नजातः) इस वाक्य शेष से कट जाते हैं ॥

उत्तर देने योग्य इस मंत्र के पौराणिक अर्थों में दो बातें हैं (१) कि इस मंत्र में प्रतिमा शब्द के अर्थ मूर्त्ति के नहीं (२) इस मंत्र में हिरण्यगर्भादि तीन मंत्रों की प्रतीकें हैं उन्हीं मंत्रों के अर्थों के अनुसार इस मंत्र के अर्थ होने चाहिये ॥

प्रथम बात का उत्तर यह है कि "कासीत् प्रतिमा किं निदानम्" अ० ८ अ० ७ व० १८ इत्यादि मंत्रों में जब वादी लोग प्रतिमा शब्द के अर्थ मूर्त्ति के मानते हैं तो फिर इस मंत्र में प्रतिमा शब्द के मूर्त्ति वाचक होने से क्यों भागते हैं। वास्तव में बात यह है कि ऋग्वेद के उक्त मंत्र में प्रतिमा शब्द के अर्थ मूर्त्ति के नहीं हैं किन्तु प्रतिमीयतेऽनयेति "प्रतिमा" जिस से किसी वस्तु का सादृश्य किया जाय उसे प्रतिमा कहते हैं, इसी अर्थ में प्रतिमा शब्द अयोध्यापुरी की उपमा में भट्टि-काव्य अ० १ श्लो० ५ में आया है "महेन्द्र लोक प्रतिमां समृद्ध्या" जो अयोध्या सम्पत्ति में महेन्द्र लोक, इन्द्र की पुरी की प्रतिमा थी अर्थात् इन्द्रपुरी को यदि किसी और वस्तु से तुलना करें तो अयोध्या ही उसकी तुलना के योग्य थी इस प्रकार प्रतिमा शब्द यहां उपमान के अर्थ में है ॥

यदि प्रतिमा शब्द यहां (प्रतिकृति) मूर्त्ति किसी वस्तु की नकल में भी माना जाय तब भी वादी का इस वाद से कुछ

नहीं बनता क्योंकि यह मंत्र तो यज्ञ का प्रतिपादन करता है, आशय इस मंत्र का यह है कि जिस यज्ञ से देवता विद्वान् लोग यजन करते हैं उसकी प्रतिमा क्या है? और उसका निदान कारण क्या है? "आज्य" उसके लिये घृतादि सामग्री क्या है? उस यज्ञ की वेदी की "परिधि" चारों ओर से मापा क्या है? इस प्रकार घृत, वेदी का मापा आदि वर्णन किये जाने से इस मंत्र का आशय स्पष्ट है कि यह मंत्र यज्ञ विषय का है इस में आप की प्रतिमा पूजन का प्रयोजन क्या? यदि इससे प्रतिमा सिद्ध हो भी तो यज्ञ कुण्डादिकों की होगी उससे आपकी क्या सिद्धि और हमारी क्या हानि॥

इस मंत्र के अनर्थ करके पं: ज्वालाप्रसाद मिश्र ने जो ईश्वर की मूर्त्ति में लगा दिया है इस अनृत की निवृत्ति के लिये हम सायण भाष्य नीचे लिखते हैं। "तदानी तस्य यज्ञस्य प्रमा प्रमाणं इयत्ता का कथं भूतासीत् तथा प्रतिमा हविः प्रतियोगित्वेन मीयते निर्मीयते इति प्रतिमा, देवता तस्य यज्ञस्य कासीत् तथा निदानमादि कारण योगे प्रवृत्तस्य प्रवर्त्तकं फलं किमासीत् तथा आज्यं घृतं एतदु-पलक्षितं हविष् वा इत्यादि" अर्थ—उस यज्ञ का परिमाण क्या था और उस यज्ञ के हविष को भक्षण करने वाला प्रतिमा देवता क्या था? तथा निदान यज्ञमें प्रवृत्ति का कारण फल क्या था? और घृत क्या था? अर्थात् सामग्री क्या थी भला इसमें ईश्वर की प्रतिमा का क्या प्रकरण है? और दोष यह है कि जब वादी

इस मंत्र में प्रतिमा शब्द के अर्थ मूर्त्ति के स्वीकार करता है तो "नतस्यप्रतिमास्ति" इस मंत्र में क्यों अस्वीकार करता है॥

वादी इसके उत्तर में यह तर्क देता है कि प्रतिमा शब्द के अर्थ दोनों हैं प्रतिमा के अर्थ सादृश्य के भी हैं और मूर्त्ति के भी-हैं जिस मंत्र में जिस भाव से प्रतिमा शब्द पाया जाता है वही आशय लिया जाता है "न तस्य प्रतिमास्ति" इस मंत्र में परमात्मा के सादृश्य निषेध के अभिप्राय से प्रतिमा शब्द आया है कि उस परमेश्वर के "सादृश्य" तुलना में अर्थात उपमा देने में उसके बराबर और कोई वस्तु नहीं। इस लिये यहां प्रतिमाशब्द सादृश्य का वाचक है। हम वादी के इस कथन को इस अंश में तो ठीक मानते हैं कि वास्तव में प्रति शब्द दोनों भावों से वेद में आया है, किसी स्थान में मूर्त्ति के भाव से और कहीं सादृश्य के भाव से पर इस बात से प्रकृत में क्या ? प्रकरण में अपेक्षित तो यह बात है कि "न तस्य प्रतिमा" इस मंत्र में प्रतिमा शब्द सादृश्य का निषेध करने वाला कैसे माना जाय, जब हम प्रकरण से यह दिखला चुके हैं कि यह निराकार का प्रकरण है इस लिये यहां "प्रतिमा" मूर्त्ति का निषेध ही प्रकरणानुकूल है सादृश्य का नहीं। और जो पं: ज्वालाप्रसाद मिश्र ने इस मंत्र के प्रतिमा शब्द सादृश्य वाचक होने में यह तर्क किया है कि (द्वितिय जो प्रतिमा शब्द है प्रतिमा शब्दार्थ है अर्थात सादृश्य का वाचक जो सो स्वयं मंत्र अङ्गीकार करता है) इसका प्रकार यह बतलाया है कि इस मंत्र में "हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्र" "मामाहिंसी

अनिताय:" "यस्मान्न जात इत्येष:" इन तीन मंत्रों की प्रतीकें हैं इन मंत्रों में ईश्वर मूर्त्तिमान् माना है इससे वादी यह सिद्ध करता है कि "न तस्य प्रतिमास्ति" यह मंत्र सादृश्य का निषेधक है क्योंकि उक्त तीनों मंत्रों के आशय से इसी मंत्र ने साकार को सिद्ध किया है। इस तर्क का उत्तर हम यह देते हैं कि प्रथम तो यह कथन ही सर्वथा असत्य है कि "नतस्य प्रतिमास्ति" इस में हिरण्य गर्भादि मंत्रों की प्रतीकें हैं, क्योंकि यह नियम वेद में और किसी स्थान में नहीं पाया गया, जो एक मंत्र अन्य मंत्रों की प्रतीकों का समुच्चय हो। और द्वितिय दुर्ज्जन तोष न्याय से हम इस बात को मान भी लेते हैं कि यह मंत्र तीनों मंत्रों की प्रतीकों का समुचय ही सही फिर भी तो वादी की मूर्त्ति पूजा (नतस्य प्रतिमा) से सिद्ध नहीं होती, कारण यह कि बादी की यह प्रतिज्ञा सर्वथा निर्मूल है कि "हिरण्यगर्भ" में जो स्वामी जी ने निराकार के अर्थ लिये हैं सो प्रसङ्ग विरुद्ध हैं तिमिर भास्कर पृ० ३५० प्रसङ्ग यहां निराकार का है इन चार मंत्रों में निराकार ईश्वर का ही प्रकरण है इन चार मंत्रों का वादी एक अनुवाक मानता है इस अनुवाक का चौथा मंत्र "य आत्मदा बलदा" यह है हम और इससे बढ़के प्रमाण क्या दिखलावें कि वादी के मतके भाष्यकार भी उक्त मंत्र में निराकार का वर्णन मानते हैं। देखो उव्वटाचार्य्य इसका यह अर्थ करता है कि "आत्मानं ददाति, आत्मदा उपासकानां सायुज्य प्रद: बलं सामर्थ्यं ददाति बलदा मुक्ति प्रद इत्यर्थ:"

इत्यादि अर्थ उपासक लोगों को सायुज्य मुक्ति देने वाला होने से उसको "आत्मदाः" कहा है, और जो "बल" मुक्ति रूपी बलदे, उसका नाम बलदा है इससे यह स्पष्ट सिद्ध हुआ कि उव्वटादि इन मंत्रों को निराकार प्रतिपादक मानते हैं क्योंकि साकार पदार्थ मुक्ति के देने वाला कोई नहीं हो सक्ता यह सर्व तंत्र सिद्ध है। इतना ही नहीं "यस्यच्छायामृतं" मंत्र के इस वाक्य का अर्थ उव्वट महीधर सायण सब यही करते हैं कि "यस्यच्छाया आश्रयो, ज्ञान पूर्वकमुपासनं अमृतंमुक्तिहेतु" अर्थ–जिस परमात्मा की छाया अर्थात् आश्रय ज्ञान पूर्वक उपासना मुक्ति का हेतु है। यहां तो आपके सब आचार्य्य एक मत होकर यह भी मानगए हैं कि उस परमात्मा की ज्ञान पूर्वक उपासना ही मुक्ति का हेतु है अन्यथा नहीं, और आपके सिद्धान्त में मूर्त्तिपूजन अर्थात् साकार पूजन ज्ञान पूर्वक उपासना करना नहीं कहला सक्ता, फिर यहां ज्ञान पूर्वक उपासना करना उक्त आचार्य्यों ने किस की मानी है॥

बहुत क्या हम इन चारों मंत्रों के अर्थ यहां कर देते हैं जिससे स्पष्ट प्रतीत हो जायगा कि "हिरण्य गर्भ" से लेकर चारों मंत्रों में निराकार की उपासना का प्रकरण है वा साकार की ?

हिरण्य गर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्यजातः पतिरेक आसीत्। सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ यजु अ० २५।१०॥

अर्थ–हिरण्य नाम ज्योति का है हिरण्य–सूर्य्य चन्द्रमादि ज्योति है मध्य जिसके सो कहिये हिरण्यगर्भ । ऐसा परमात्मा "सं अवर्त्तत अग्रे" सृष्टि से प्रथम वर्त्तमान था और वह सब भूतों की उत्पत्ति का एक ही कारण था, और जो पृथिवी से लेकर द्यौ पर्य्यन्त सब लोक लोकान्तरों को धारण कर रहा है उसको छोड़कर और हम किसकी उपासना करें अर्थात् ऐसे पूर्ण परमात्मा को छोड़कर और हम किसी की उपासना न करें, एक अद्वितीय परमेश्वर की उपासना का विधायक यह मंत्र है ॥

सायणाचार्य्य भी इनमंत्रों को निराकार प्रतिपादन मेंही लगाताहै "हिरण्यमयः अण्डा गर्भवदस्य उदरे वर्त्तते सोऽसौ सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ इत्युच्यते" अर्थ–(हिरण्यमय) प्रकाश वाले सूर्य्य चन्द्रादि लोक जिसके उदर में हों उस सूत्रात्मा का नाम हिरण्य गर्भ है । इस प्रकार सायणादि आचार्य्य इन मंत्रों के अर्थ निराकार सर्वाधार सूत्रात्मा के करते हैं । मालूम होता है कि अमरकोष के अर्थों का ध्यान धरके मूर्त्ति पूजकों ने हिरण्यगर्भादि मंत्रों को साकारवाद में समझा है ॥

यः प्राणतो निमिषितो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव। य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ यजु० २ ॥

अर्थ–जो प्राण चेष्टा करने वाले सर्व जगत् का अर्थात् स्वेदज उद्भिदादि भूत चतुष्टय का एक ही राजा है और जो द्विपद

चतुष्पदादि गति वाला संसार वर्ग है उसका भी एक ही ईश्वर है यह प्राणधारी तथा द्विपदादि कथन वस्तु मात्र का उपलक्षण है अर्थात् जो वस्तु मात्र का ईश्वर है उसको छोड़कर हम और किसी वस्तु मात्र की उपासना न करें ॥

यस्ये मे हिमवन्तो यस्य समुद्रं रसया सहाहुः। यस्ये मा प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ यजु० ३ ॥

इस मंत्र के अर्थ प्रथम किये गए हैं यहां केवल प्रसङ्ग सङ्गति दिखलाने के लिये आशय वर्णन किया जाता है। पूर्व मंत्रों से प्रकरण यहां यह चला आता है कि हम किस देव की उपासना करें? इस पूर्व पक्ष का उत्तर यह है कि समुद्र के साथ सब नदियें, और हिमालय की चोटियें, इस प्रकार के विचित्र भावों वाले पदार्थ जिस परमात्मा के महत्व को कथन करते हैं और जिसकी पूर्वादि दिशाएं बाहू हैं अर्थात् निराकार होने से यदि बाहू आदि कों के रूपका उपन्यास करके कहें तो पूर्वादि दिशायें ही उसके बाहू हैं और नहीं। कौन कह सक्ता है कि यह मंत्र साकार का प्रतिपादक है महीधर सायण उव्वटादि सब आचार्य्य इसके निराकार के अर्थ करते हैं और अधिक क्या कहें ज्वालाप्रसाद भार्गव ईश्वर के साकारवाद का परम प्रेमी जो साकारवाद की छान वीन में वेद का पत्र २ छान मारता है वह विचारा भी इस मंत्र के अर्थ करते समय निराकार के सहारे से ही अपने

साहस को समाप्त करता है। देखो मूर्त्ति रहस्य पृ० ८३ ये हिमवानादि पर्वत जिसके महत्व से कहे, नदी समूह सहित समुद्र को जिसका ऐश्वर्य्य कहा, इत्यादि कहकर स्पष्ट यह मानता है कि यह ईश्वर का वर्णन है जिसकी भुजादि अवयव दिशा रूप ही हैं॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः। यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ४॥

इस मंत्र में तो किसी ने भी अद्यावधि यह नहीं कहा कि यह मंत्र साकार का प्रचार करता है क्योंकि आत्मिक भाव देने वाला परमात्मा और शारीरिक बलादि देने वाला परमात्मा और (यस्य विश्व उपासते) सारा विश्व जिस की उपासना करता है ऐसा तो अजन्मादि विशेषण विशिष्ट और प्राकृत गुण न होने से निर्विशेष परमात्मा ही है और कोई साकार वस्तु नहीं। सायण इस पर स्पष्ट यह भाष्य करता है कि "य प्रजापती आत्मदा आत्मानां दाता आत्मानो हि सर्वे तस्मात् परमात्मन उत्पद्यन्ते" अर्थ—जो प्रजापति आत्मा जीवात्माओं का उत्पत्ति स्थान है, अथवा जीवात्माओं का संशोधन करने वाला है यह 'आत्मदा' के अर्थ हैं क्योंकि दैप शोधने धातु से दा बनता है यह सायणाचार्य्य लिखता है। कुछ हो यह तो प्रकरणान्तर है प्रकृत यह है कि सायणाचार्य्य भी इन मंत्रों में उस देव को परमात्मा मानता है जिसके विषय में प्रश्न था कि हम लोग किसकी उपासना करें।

और इस बात से सायणाचार्य्य ने इन मंत्रों में निराकारवाद को और भी स्पष्ट कर दिया कि उस परमात्मा का यहां वर्णन है जिससे सब सृष्टि उत्पन्न होती है, यह आर्य्य शास्त्र का सर्व तंत्र सिद्धान्त है कि सृष्टि निराकार ईश्वर से उत्पन्न होती है। हमारे सनातनी भाइयों का शेषशाई साकार तो पीछे बनता है, यह सिद्धान्त "ततोविराडजायत" इत्यादि मंत्रों से सिद्ध है ॥

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति" इत्यादि उपनिषद वचन इसी सिद्धान्त को दृढ़ करते हैं। फिर "य आत्मदा बलदा" इत्यादि मंत्रों में जिस सृष्टि कर्त्ता का कथन किया गया है उसमें साकारवाद की कथा ही क्या? रहा यह प्रश्न कि सायणाचार्य्य ने उक्त मंत्र में जो निराकार से जीवों की उत्पत्ति मानी है जैसे कि "आत्मानो हि सर्वे तस्मात्परमात्मन उत्पद्यन्ते" एवं सब जीवात्माओं की उत्पत्ति परमात्मा से मानी है और आर्य्य मन्तव्यों में जीवात्मा अनादि अनन्त माने गए हैं? इसका उत्तर यह है कि "तस्माद वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" इत्यादि मंत्र सिद्ध आविर्भाव को ही उत्पत्ति शब्द से कहा गया है अन्यथा "उत्पत्यसम्भवात्" इत्यादि शास्त्र से उत्पत्यसम्भवाधिकरण में जो जीवात्माओं को अनादि माना है उसके साथ विरोध आता। और जो सायणाचार्य्य ने "हिरण्यगर्भादि" मंत्रों में परमात्मा की कारणता सिद्ध करते हुए यह लिखा है कि "यथाग्नेः सकाशात् विस्फुलिङ्गाजायन्ते" इस अग्नि के दृष्टान्त से साकार ईश्वर सिद्ध

होता है? इसका उत्तर यह है कि इससे सायणाचार्य्य का अभिन्न निमित्तोपादान कारण में तात्पर्य्य है, साकार ईश्वर में तात्पर्य्य नहीं। वृहदारण्यक के भाष्य में स्वामी शङ्कराचार्य्य ने इस वात को स्पष्ट कर दिया है कि अग्नि विस्फुलिङ्गादिवाद उपनिषदों में ब्रह्म की एकता सिद्ध करने के अभिप्राय से है साकार के अभिप्राय से नहीं, अन्यथा निराकार वादिनी श्रुतियों के साथ विरोध आता। प्रकृत यह है कि उक्त हिरण्यगर्भादि चार मंत्रों में निराकार ईश्वर का प्रतिपादन है। "नतस्य प्रतिमास्ति" इस मंत्र में हिरण्यगर्भ की प्रतीक से जो पं: ज्वालाप्रसाद मिश्र उक्त मंत्र को साकार विधायक कहता था यह वात सिद्ध नहीं हुई। "प्रधानमल्ल निवर्हणन्याय" से इस वात का भी उत्तर आ गया जो "यस्मान्न जातः" "मामां हिंसीज्जनितायः" इन प्रतीकों में साकार का वर्णन पं: ज्वालाप्रसाद मिश्र ने माना है॥

जव हमने इस वात को काट दिया जो पं: ज्वालाप्रसाद मिश्र ने यह लिखा था कि स्वामी जी ने 'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे' के अर्थ प्रकरण विरुद्ध किये हैं तो "यस्मान्नजात" इत्यादि प्रतीकों का उत्तर वीच में ही आगया, जैसे प्रधान मुख्य मल्ल के गिराने से उसके चेले चाटे वीच में ही आजाते हैं एवं "हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे" को निराकार वस्तु प्रतिपादक सिद्ध करने से पं ज्वालाप्रसाद मिश्र की यह प्रधान प्रतिज्ञा टूट गई कि "नतस्य प्रतिमास्ति" यह मंत्र साकार को प्रतिपादन करता है।

अब मंत्र के अर्थ यह हुए कि:—

नतस्य प्रतिमास्ति यस्यनाम महद्यशः हिरण्यगर्भ इत्येषः यस्मान्नजात इत्येषः ॥ यजु० अ० ३२।३।

अर्थ–"नतस्य" उसकी कोई (प्रतिमा) मूर्त्ति नहीं है जिस परमात्मा का नाम अर्थात् यश प्रसिद्ध है। सृष्टिं रचना रूप से प्रसिद्ध यश है इससे बड़ा और यश क्या हो सक्ता है, वह परमात्मा "हिरण्यगर्भः" सब सूर्य्य चन्द्रमादि पदार्थों का अधिकरण अर्थात् सब लोक लोकान्तर उस परमात्मा के उदर में निहित हैं इस लिये उस परमात्मा देव से यह प्रार्थना करनी चाहिये कि हे देव तू हमारी हिंसा मतकर अर्थात् शारीरिक आत्मिक सामाजिक तीनों प्रकार के बल को हम कदापि तेरे से विमुख होकर हनन न करें और जिस लिये हे परमात्मन् आप उत्पन्न नहीं होते इस लिये आपकी कोई मूर्त्ति नही है ॥

और यदि वादी लोगों के कथनानुसार "हिरण्यगर्भः" इत्यादि तीनों मंत्रों की प्रतीकें मानी जाय तो भी अर्थ यह होगा कि उसकी कोई (प्रतिमा) मूर्त्ति नहीं, जिसके वर्णन में "हिरण्यगर्भ" ऋग्वेद अ० ८ अ० ७ व० ६ "मामाहिंसीज्ज नितायः" यजु० १२। १०२ "यस्मान्नजातः" यजु० ८। १६ यह मंत्र हैं इनका फिर भी अर्थ यही होगा और "नतस्यप्रतिमा" का अर्थ फिर भी किसी प्रकार बदल नहीं सकेगा, ग्रंथ विस्तार भय से हम "यस्मान्नजातः मामाहिंसीज्जनिताय" के अर्थों का विस्तार नहीं करते, यदि कोई देखना चाहे तो श्री स्वामी

जी के भाष्य में देख ले। उक्त मंत्रों में निराकार ईश्वर का ही वर्णन है साकार का नहीं, इस प्रकार "तदेवाग्निस्तदादित्य:" "सर्वेनिमेषा:" इस प्रकरण में तत् शब्द का अर्थ इन पूर्व मंत्रों में जो ब्रह्म कथन किया गया वही है जिसके अर्थ वादी के परम माननीय आचार्य्यों के मत से और वेद मत से निराकार परमात्मा के सिद्ध किये गए। इस प्रकार पूर्वोत्तर समालोचना से यही सिद्ध होता है कि प्राचीन आर्य्य लोगों का यही मन्तव्य था कि ईश्वर निराकार है॥

॥ इतिवेदार्थसंग्रहे ईश्वर मन्तव्य निरूपणं समाप्तम्॥

अब इस दूसरे मन्तव्य में वैदिक अर्थों का संग्रह किया जाता है। वेदादि मन्तव्यों में प्रथम मन्तव्यवत् बहुत विस्तार करने से ग्रंथ बहुत वृहत् हो जायगा, अतएव हम केवल वैदिक मंत्रों पर ही अधिक निर्भर करके इन मन्तव्यों के वेदार्थ संग्रह को सङ्कुचित करने की चेष्टा करेंगे॥

इस मन्तव्य का आशय यह है कि वेद ईश्वरीय होने से निर्भ्रम हैं अर्थात् ईश्वर ने जो ज्ञान अपनी सर्व शक्तिमत्ता से ऋषियों के हृदय में प्रकाश किया वह वेद है, और वह वेद ईश्वरीय ज्ञान होने से निर्भ्रान्त है। वेदों के निर्भ्रम होने के विषय में हम पहिले भी संक्षेप से वर्णन कर आए हैं, इसी प्रकार स्वामी शङ्कराचार्य्यादिकों ने भी वेदों को भ्रान्ति रहित माना है, वेदस्य हि स्वार्थे निरपेक्षं प्रामाण्यं रवे रिव रूप विषये॥ स्मृति पा० सू० १ एवं यह विषय आर्य्य मात्र में सर्व तंत्र सिद्ध है कि वेद ईश्वरीय होने से भ्रान्ति रहित हैं॥

यहां इस आशय का विचार किया जाता है कि किसके द्वारा वेद प्रकट हुए, क्योंकि इस विषय में हमारे सनातनी भाई विप्रतिपन्न हैं ॥

"तस्मात् यज्ञात्सर्वहुतऋचःसामानिजज्ञिरे" इस मंत्र के प्रमाण से यह बात तो सिद्ध है कि (ऋचः) ऋग्वेद (सामानि) सामवेद (छन्दांसी) से अथर्व और यजुः चारों वेद ईश्वर से प्रकाश हुए, किस मनुष्य के द्वारा प्रकाश हुए इस का वर्णन ब्राह्मण ग्रथों में है, और पः ज्वालाप्रसादमिश्र सनातनधर्म्मकल्पतरुकार ने यह लिखा है कि

यास्मिन्नश्वासऋषभास उक्षणोवशा मेषा अवसृष्टा स आहुताः। कीलालपे सोम पृष्टाय वेधसे हृदामतिं जनये चारु मग्नये॥ ऋ० मं० १० अ० ८ सू० ९१ मंत्र १४॥

इस मंत्र से ब्रह्मा जी को वेद प्राप्ति पाई जाती है (वेधसे हृदामतिं जनये) इस का अर्थ यही है कि परमात्मा ब्रह्मा जी के हृदय में वेदों का प्रकाश करता हुआ। तिमिर भास्कर पृ० २३७ यहां तो मिश्र जीने "वेधसे हृदामतिं जनये" इस वाक्य गत "वेधस" शब्द से ब्रह्माजी पर वेद प्रकट होने की विधि येन केन प्रकारेण मिला ही ली। पर इस समय ऐसे आडम्बर मात्र के अर्थों को कौन खड़ा होने देता है, देखो इस मंत्र में आगे अन्त में "अग्नये" यह विशेषण "वेधसे" का पड़ा है जिससे यह अर्थ स्पष्ट है कि मैं ऐसे अग्नि के लिये "हृदा" हृदय से

"चारुं" कल्याण करने वाली मति बुद्धि को उत्पन्न करता हूं। यहां उक्त पं: साहब "चारुमग्नये" इस अगले पाठ को झट चट कर गए। इतना ही नहीं पूर्वका पाठ जो (कीलालपे सोम पृष्टाय) उक्तदोनों चतुर्थ्यन्त शब्द "वेधसे" के विशेषण थे इनको भी जलाञ्जलि दे गए। और लोगों के दिखलाने के लिये ऊपर पूरा मंत्र "यस्मिन्नश्वा स ऋषभा" यह लिख गए। अर्थ करने में केवल इतनी प्रतीक ही याद रही "वेधसे हृदामतिं जनये" और सम्पूर्ण मंत्र भूल गए, क्यों न भूलते यदि न भूलते तो ब्रह्माजी को वेद प्राप्ति कराते कराते कुछ और प्राप्त कर बैठते, और वह यह था कि सूत्रामणि यज्ञ में जो "सुरा" शराब पीने वाला अग्नि है और सोमरस युक्त है पृष्ट भाग जिसका, ऐसे अग्नि के लिये हम कल्याण कारिणी मति उत्पन्न करें अर्थात् ऐसे अग्नि की हम स्तुति करें, फिर वह अग्नि कैसा है जिसमें पुष्ट २ घोड़े और बैल और "मेषा" मेढ़े देवता के लिये अश्वमेध यज्ञ में हवन किये जाते हैं ऐसे अग्नि के लिये हम स्तुति रूप बुद्धि उत्पन्न करें, यहां तो ब्रह्मा जी को वेद उत्पन्न करते २ कुछ और ही उत्पन्न हो गया। इस अर्थ में किसी को सन्देह हो तो देखो सायणाचार्य्य का सनातन भाष्य "ऋ० अ० ८अ० ४ व०२३ मं: १४" सनातन धर्म्म के संकल्प पूर्ण करनेवाले कल्पतरुकार जी आप सायणाचार्य्यादिकों के सनातन अर्थों को छोड़कर नई नई नीवें क्यों डालते जाते हैं यह अधिकार आपको नहीं, आप तो सभी सनातन अर्थ ठीक मानते हो तुम्हारी सम्मति में तो वेदों के अर्थ करने में सायणाचार्य्यादि भूल में न थे किन्तु केवल

आर्य्य समाज ही भूल में है ॥

सायणादि भाष्यकारों को छोड़कर नए अर्थ करने का अधिकार तो आर्य्य समाज को ही है जो सायणादिकों के समय को पौराणिक समय होने के कारण भ्रान्ति मूलक बतलाता है और वेदों को पशुवध रूप अश्वमेधादिकों से रहित मानता है ॥

आर्य्य मन्तव्यानुकूल उक्त मंत्र के यह अर्थ हैं कि "कीलालपे" जो जल के पीने वाला भौतिकाग्नि है और हवन काल में जिसके पृष्ठ भाग में सोमरसादि पाया जाता है इस प्रकार की हवनादि सामग्री को धारण करने वाला जो (वेधस) विदधातीति-वेधस इस व्युत्पत्ति से जो धारण करने के अर्थ से (वेधस) नाम से प्रसिद्ध है। फिर वह कैसा भौतिकाग्नि है "यस्मिन्नश्वा" जिस में अश्व, वैल, मेषादि, पशु दान दिये जाते हैं अर्थात् हवन यज्ञ के अन्त में अश्वादि पशु यज्ञों में दान किये जाते हैं। ऐसे भौतिकाग्नि की हम हृदय से स्तुति वर्णन करते हैं। इस मंत्र में अग्न्यादि पदार्थों का स्वभाव वर्णन किया गया है ॥

प्रकृत यह है कि इस मंत्र में ब्रह्माजी को वेद प्राप्ति का कहीं भी पता नहीं पाया जाता, केवल (वेधस) शब्द के अनर्थ करके अपने अर्थ सिद्ध करने की चेष्टा की है। और जो "ब्रह्मा देवानां प्रथमंसम्बभूवविश्वस्यकर्त्ताभुवनस्य गोप्ता" इस प्रथम मुण्डक का आश्रय लेकर ब्रह्मा को वेद प्राप्ति मानी जाती है इसका आशय यह है कि यहां ब्रह्मा का प्रथम होना उपनिषद् विद्या वेत्ता ऋषियों में प्रथम होना पाया जाता है नकि वेद वेत्ताओं में। "विश्वस्यकर्त्ताभुवनस्य गोप्ता" यह विशेषण

ब्रह्मविद्या को प्रकट करके उसके द्वारा भुवन संसार की रक्षा के अभिप्राय से है ॥

और जो–हिरण्यगर्भंजनयामास पूर्वंसनोबुध्याशुभयासंयुनक्तु । श्वेता० ३ । ४ इससे ब्रह्मा प्रथम सिद्ध किया जाता है यहां हिरण्यगर्भ से तात्पर्य्य किसी ब्रह्मा ऋषि का नहीं, किन्तु विराट का नाम है जिसका वर्णन मनु में स्पष्ट है ॥

"भूतानां ब्रह्माप्रथमो ह्जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणास्पर्धितुंकः" अथर्व० १९ । २३ । ३० और इस मंत्र से जो ब्रह्मा ऋषि सिद्ध किया है और यहां महाव्यामोह से यह कथन किया है कि दयानन्दजी तथा उनके चेलों को आंखे खोलकर देखना चाहिये कि यह मंत्र भाग की श्रुति है तिमिर भास्कर पृ० २३८ इसका उत्तर यह है कि श्री स्वामी दयानन्दजी महाराज तथा उनके चेलों ने ठीक २ आंख खोलकर देखा तो यह पाया कि वेद संहिता में आपके चतुर्मुख ब्रह्मा का वा वेदों के कर्त्ता ब्रह्मा का कहीं नाम तक नहीं। पर अब आप आंखें खोलकर देखें तो इस मंत्र में तो ब्रह्मा नहीं किन्तु ब्रह्म है। देखो इस मंत्र के पूर्वार्द्ध में यह शब्द है, "ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिव माततान" इसके अर्थ यह हैं कि ब्रह्म ने सृष्टि के प्रथम इस बड़े द्यौ लोक को (आततान) विस्तार किया। अब कहिये द्यौ लोक के विस्तार करने वाला ब्रह्म हुआ वा आपका पौराणिक ब्रह्मा ॥

पौराणिक ब्रह्मा को वेद प्राप्ति के विषय में सबसे पुष्ट प्रमाण यह दिया जाता है:—

यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै तंह देवात्म बुद्धि प्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ श्वेताश्वतर अ० ६ ॥

इसके अर्थ यह हैं कि जिस परमात्मा ने (ब्रह्माणं) हिरण्यगर्भरूप ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करके उस ब्रह्माण्ड के लिये वेदों को दिया, उस परमात्मा की मैं मुमुक्षु शरण को प्राप्त होऊं, इस उपनिषद् वचन से किसी मनुष्य रूप ब्रह्मा को वेदों का दिया जाना नहीं पाया जाता ॥

और "सब्रह्मविद्यांसर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठ पुत्राय प्राह" इस मुण्डक वाक्य का उत्तर तो ब्रह्मा उपनिषद् वेत्ताओं में प्रथम हुआ इस कथन से देदिया गया ॥

इस प्रकार वेद संहिता और उपनिषदों में कहीं भी आपके ब्रह्मा को वेदों की प्राप्ति होना नहीं लिखा प्रत्युत प्रतिकूल लिखा है जैसे कि :—

तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयोवेदाअजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदः वायोर्यजुर्वेदः आदित्यात् सामवेदः ॥ शतपथ कां० ११ अ० ५ ॥ अर्थ–तप करते हुए अग्नि वायु आदित्य इन तीनों ऋषियों से, अग्नि से ऋग्वेद वायु से यजुर्वेद आदित्य से सामवेद, उक्त तीनों वेद उत्पन्न हुए ॥

इस विषय में यह भी प्रश्न उत्पन्न होता है कि वेद तीन ही हैं जो शतपथ के उक्त वाक्य में तीनों वेदों का ही कथन है इसका

उत्तर यह है कि यहां तीनों का प्रसङ्ग होने के अभिप्राय से तीन कहे गए, वास्तव में वेद चार हैं इसी शतपथ में चार वेद होने का प्रमाण पाया जाता है "एतस्य वा महतो भूतस्य निश्वसितं ऋग्वेदः यजुर्वेदः सामवेदः अथर्ववेदः" इससे सिद्ध है कि वेद चार हैं, अस्त्वन्य देतत् ॥

प्रकृत यह है कि "तेभ्यस्तप्तेभ्यः" इस शतपथ के वचन से वेदों का अग्नि आदि ऋषियों के द्वारा प्रकट होना पाया जाता है वा ब्रह्मा के द्वारा ? ब्रह्मा के द्वारा वेदों का प्रकाश होना मानने वाले इस शतपथ का यह अर्थ करते हैं कि अग्नि वायु आदित्य इन तीनों तपस्वियों से तीनों वेद ऋग् यजु साम प्रकाश हुए अर्थात् वेद त्रय विहित कर्मों का प्रचार हुआ, क्योंकि इस श्रुति में अजायन्त क्रिया है और वह जनि धातु से बनती है, जो प्रादुर्भाव के अर्थों में प्रसिद्ध है। और प्रादुर्भाव प्रकाश होने को कहते हैं, जिसे भाषान्तर में ज़ाहिर होना कहते हैं, तात्पर्य्य यह है कि इन तीनों देवताओं ने जगत् में तीनों वेदों का प्रचार किया ॥

ब्रह्माजी से इन्हीं तीनों ने वेदों को पढ़कर विहित यज्ञादिक कर्मों का अनुष्ठान किया, तिमिर भास्कर पृ० २३८

यहां वादी ने यह तो माना कि अग्नि आदि ऋषियों के द्वारा वेदों का प्रकाश हुआ, और इसी पृष्ठ में "अग्निर्देवता वातो देवता" इस मंत्र के प्रमाण से यह सिद्ध किया है कि अग्नि आदि ऋषि न थे किन्तु जड़ पदार्थ थे, धन्य है सनातनियों

की स्मृति जो फिर इसी पृष्ठ में अग्नि आदिकों को तपस्वी माना। इतना ही नहीं प्रत्युत यह भी माना कि वेदों का प्रचार अग्नि वायु आदित्यादिकों के द्वारा ही हुआ है। वादी उन वक्ताओं में से है जो श्रीस्वामीजी को परस्पर विरोध का दोष लगाया करते हैं और स्वामी जी के मन्तव्य से अत्यन्त विरुद्ध भङ्ग पीने का उपहास करके भूल के कारण भङ्ग का उपालम्भ दिया करते हैं पर यहां तो वादी स्वयं शिव भोले की भक्ति के भवर में पड़कर इस बात को भूल गया कि पहले में क्या लिख आया हूं और अब क्या लिखता हूं। और जो "अजायन्त" क्रिया के अर्थों पर बड़ा भारी बल लगाकर यह सिद्ध किया कि अग्न्यादि ऋषियों ने केवल वेदों को प्रकट किया रचा नहीं, इस सिद्ध साधन से क्या, हम कब कहते हैं कि अग्न्यादिकों ने वेदों को बनाया, और आपके ब्रह्मा जी ने कौनसा वेदों को बनाया उनको भी तो आप प्रकाश होना ही मानते हैं फिर आविर्भाव के अर्थों से आपको क्या लाभ, क्योंकि आविर्भाव में अग्न्यादि ऋषि और ब्रह्मा समान हैं, अस्तु अधिक दिखलाने योग्य बात यह है कि यहां तो वादी ने अर्थात् के अर्थ को ऐसा लम्बा कर लिया जो इन तीनों तपस्वियों से तीनों वेद ऋग् यजु साम प्रकाश हुए के अर्थ अर्थात् कहकर यह करलिये कि अर्थात् वेदत्रय विहित कर्मों का प्रचार हुआ॥

इस प्रकार वेद विहित कर्मों के प्रचार को आपने अग्न्यादि को मानकर फिर यह माना कि ब्रह्मा जी से इन्हीं तीनों ने वेदों को पढ़कर विहित यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान किया। अब बतलावें

यहां तो आपने अग्न्यादि ऋषियों को ब्रह्माजी के विद्यार्थी माना है फिर जड़ कैसे रहे । न केवल विद्यार्थी ही माना है प्रत्युत यज्ञादि कर्मों के अनुष्ठान करने वाले माना है ठीक है, आप को इस में क्या आग्रह है अग्न्यादि ऋषि यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करें और वेदों का जगत् में प्रचार करें पर आपको आग्रह इस बात का है कि अग्न्यादि ऋषि ब्रह्माजी के विद्यार्थी अवश्य बने रहें । हमें क्या जहां तक बन पड़े अग्न्यादिकों को ब्रह्माजी के विद्यार्थी बनाइये, पर आपके मनु भगवान ही नहीं बनने देते हम क्या करें, देखो :—

अग्निवायुरविभ्यस्तुत्रयं ब्रह्म सनातनम् । दुदोह यज्ञ सिद्ध्यर्थमृग्यजु साम लक्षणम् मनु० अ० १ श्लो० १२ ॥

अर्थ—यह है कि अग्नि वायु आदित्य इन तीनों से सनातन ब्रह्म जो वेद है उसको यज्ञ की सिद्धि के लिये ब्रह्माजी ने उक्त तीनों ऋषियों से वेद त्रयी को दोहन किया । मनुका यह आशय है कि अग्नि वायु आदित्य इन तीनों से ब्रह्मा को वेद मिले, इस आशय को कोई छिपा नहीं सक्ता ॥

इसके अर्थ पं: ज्वालाप्रसाद मिश्र सनातनधर्म के संस्कार कर्त्ता अब यों करते हैं, (ब्रह्माजी ने ऋग् यजु साम यह नित्य तीन वेद यज्ञ की सिद्धि के लिये अर्थात् यज्ञ करने और कराने के हेतु अग्नि वायु रवि नामक देवताओं के अर्थ क्रम पूर्वक दिये । (अग्नि वायु रविभ्य:) यहां चतुर्थी विभक्ति है पञ्चमी नहीं,

और दुदोह क्रिया ददौ के अर्थ में है, इत्यादि अनर्थ करके यह लिख मारा है कि धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं इसलिये यहां दुह धातु के अर्थ दुहने के नहीं किन्तु देने के हैं, एवमेवास्तु ऐसा ही सही जहां दुग्धं गीतामृतम् पाठ है उसके अर्थ सनातन संप्रदाय से गीता रूपी अमृत दिया यह होंगे, हों पर पं० ज्वाला प्रसाद मिश्रजी इस सनातनपन से कहां मुख छिपावेंगे कि दुदोह क्रिया का कर्त्ता मनु के सब भाष्यकारों ने ब्रह्मा को माना है और "अग्नि वायु रविभ्यः" इसको सब ने अपादान माना है। देखो कुल्लूक यह अर्थ करते हैं, "ब्रह्मा ऋग्यजुसाम संज्ञं वेद त्रयं अग्नि वायु रविभ्यः आकृष्टवान्" अर्थ—ब्रह्मा ने तीनों वेदों को अग्नि वायु आदित्य इन तीन ऋषियों से आकृष्टवान्-लिया, और इस अर्थ में वही आपकी मानी हुई शतपथ की श्रुतिप्रमाण है जिसमें आप अग्निआदिकों से वेदों का जगत् में प्रचार होना मान आए हैं, और वहां "तेभ्यस्तपतेभ्यः" इसको पञ्चमी विभक्ति मान आये हैं इसी पञ्चमी विभक्ति के अर्थों को कुल्लूक भट्ट यों खोलता है "अग्नेर्ऋग्वेदोवायोर्यजुर्वेद आदित्यात्सामवेद इति" शतपथ आकर्षणार्थत्वाद्दुहिधातोर्नाग्नि वायुरविणामकथितकर्मता किन्त्वपादानतैव॥ अर्थ—अग्नि से ऋग्वेद और वायु से यजुर्वेद आदित्य से साम वेद, यहां दुह धातु आकर्षण अर्थ वाली है इस लिये "अकथितञ्च" इस सूत्र करके अग्नि वायु आदिकों को कर्म्म नहीं हुआ, अपादानता ही है, अब कहिये क्या इन सारे सनातन भाष्यों पर दृष्टि ना देकर मन माने सम्प्रदान के अर्थ बनाकर अर्थात् चतुर्थी के

अर्थ बनाकर अग्नि आदिकों को वेद विद्या में ब्रह्मा जी के विद्यार्थी बनायेंगे? यहां और क्या कहें इस शतक में ऐसे नए अर्थ करके सनातन धर्म्मी होने का दम भरना यह काम आज कलके कलयुगी आचार्य्यों का ही है ॥

इस मनु के श्लोक से यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्मा को वेद अग्नि आदि ऋषियों के द्वारा मिले, अब क्या? "तस्मिन्यज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामह" इत्यादि ब्रह्मा के प्रथम उत्पन्न होने का कथन शतपथादिकों में अग्नि आदि ऋषियों के प्रथम सिद्ध होने के प्रमाणों से प्रबल हो सक्ता है। सारांश यह है कि जब शतपथ से यह सिद्ध हो गया कि ब्रह्माजी ने अग्नि आदि ऋषियों से वेद लिये तो मनु आदि के प्रमाणों से ब्रह्मा को प्रथम सिद्ध करना क्या काम आ सक्ता है॥

इति वेदार्थ संग्रहे द्वितीयमन्तव्य निरूपणं समाप्तम् ॥

(३) इस तीसरे मन्तव्य में धर्म का लक्षण किया गया है, ईश्वराज्ञा का पालनकरना धर्म है, और उससे विरुद्ध का नाम अधर्म है। यही धर्म्माधर्म्म का मुख्य लक्षण है। यह मन्तव्य स्पष्ट है इसमें व्याख्या की आवश्यक्ता नहीं ॥

(४) जिसके इच्छा द्वेष सुख दुख ज्ञानादि लिङ्ग हों, उस का नाम जीव है। इसमें न्याय शास्त्र का यह सूत्र है, "इच्छाद्वेष प्रयत्नसुखदुख ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति" न्या० द० १।१।१० इनमें ज्ञानादि गुण तो उसके स्वरूपभूत हैं और द्वेष सुख दुःख आदि उसके उपलक्षण हैं स्वरूपभूत नहीं। जैसे कि "तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्" ब्र० सू० २।३।२९।

(तद्गुणसारत्वात्) नाम ज्ञान गुण सार होने के अभिप्राय से उसको विज्ञानमय कहा गया है, जैसे कि (प्राज्ञवत्) नाम परमात्मा को आनन्द गुण सार होने के अभिप्राय से आनन्दमय कहा गया है। इससे सार यह निकला कि जीवात्मा का ज्ञान रूप गुण ही स्वरूप भूत है और गुण आगमापाई हैं, इससे मुक्ति में द्वेष और दुःखादिकों के रहने का दोष नहीं आता॥

(५) इस पांचवें मन्तव्य में जीव ईश्वर के भेद को सिद्ध किया गया है। वह भेद इस प्रकार है "ततस्तुतंपश्यतेनिष्कलं ध्यायमानः"। मु० ३। १। ८ अर्थ—उस निष्कलंक परमात्मा को ध्यान करने वाला जो जीव है वह देख सक्ता है। इस वाक्य में परमात्मा ध्यान का विषय और जीव ध्यान करने वाला, इस प्रकार जीव ईश्वर के भेद को स्पष्ट वर्णन किया गया है। "परात्परंपुरुषमुपैतदिव्यं" मु० ३। २। ८। अर्थ—वह (परात्परं) नाम प्रकृति से परे जो पुरुष है उस दिव्य पुरुष को जीवात्मा प्राप्त होता है, जीवात्मा उसको प्राप्त होने वाला है और वह प्राप्ति का विषय है। एवं यह वाक्य भी भेद ही को कथन करता है "यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति" बृ० ३। ७। ३। जो सब भूतों के अन्तर व्यापक होकर उनकी प्रेरणा करता है वह तुमारा आत्मा है, और "य आत्मनितिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद" इत्यादि वाक्यों में व्याप्य व्यापक भाव से जीव ईश्वर का स्पष्ट भेद वर्णन किया गया है॥

द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिष

स्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति। ऋ० अष्ट० २ अ० ३ व० १७।

अर्थ–(द्वासुपर्णा) नाम दो चेतन हैं (सयुजा) नाम अनादि काल से सम्बन्ध रखने वाले हैं (सखाया) परस्पर मित्र हैं, (समानं वृक्षं) नाम अनादित्वेन समान प्रकृति रूपी वृक्ष को (परिषस्वजाते) नाम आश्रय किये हुए हैं। उन दोनों में से (अन्य) जो परमात्मा है वह आप्त काम होने के कारण से (अनश्नन्) नाम भोग न करता हुआ (अभिचाकशीति) नाम साक्षी रूपसे वर्त्तता है। इस मंत्र में जीव ईश्वर का स्पष्ट रूप से भेद वर्णन किया गया है। कोई मायावादी इसको कल्पित भेद कथन करता है, कोई उक्त दोनों में से भोक्ता बुद्धि और अभोक्ता जीव लेता है, इस प्रकार नाना अर्थ करते हैं, पर यहां जीव ईश्वर को छोड़कर बुद्धि और जीव का ग्रहण करना अति कठिन है क्योंकि उन्हीं के कई एक भाष्यकार यहां जीव ईश्वर का ही ग्रहण करते हैं जैसे कि सायण यह लिखता है कि "अत्रलौकिकपक्षिद्वयदृष्टान्तेन जीव परमात्मानौस्तूयेते" यहां लौकिक पक्षि दो के दृष्टान्त से जीव और परमात्मा की स्तुति की गई है, इसलिये भी बुद्धि जीव का यहां ग्रहण नहीं हो सक्ता कि मुण्डकोपनिषद् में यह मंत्र जीव ईश्वर के विषय में पढ़ा गया है न कि बुद्धि और जीव के विषय में। एवं व्यास सूत्रों में भी जीव ईश्वर का भेद स्पष्ट है जैसा कि "अधिकन्तु भेद निर्देशात्" ब्र० सू० २। १। २२।
अर्थ–तु शब्द पूर्वपक्ष को हटाता है (अधिकं) नाम ब्रह्म जीव से

अधिक अर्थात् बड़ा है (भेदनिर्देशात्) नाम वेदोपनिषदों में जीव ब्रह्म का भेद कथन किये जाने से। जैसे कि "आत्मावारे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" बृ० २। ४। ५।

"सोऽन्वेष्टव्यः" "स विजिज्ञासितव्यः" इत्यादि उपनिषदों में जीव ब्रह्म का भेद है। इस सूत्र में स्वामी शङ्कराचार्य्य को भी भेद ही मानना पड़ा है, क्योंकि इससे पूर्व यह सूत्र था कि यदि ब्रह्म ही जीव बन गया तो उसने अपने लिये हित न किया, इसका उत्तर उक्त सूत्र है। यदि जीव ब्रह्म के भेद का कोई अधिक विस्तार देखना चाहें तो वेदान्तार्य्यभाष्य में देखलें, यहां विस्तार भय से संक्षिप्त लिखा गया है॥

(६) तीन पदार्थ जीव प्रकृति और परमात्मा को अनादि माना है वह "द्वासुपर्णासयुजासखाया" इत्यादि मंत्रों में स्पष्ट हैं॥

(७) जो द्रव्य, गुण, कर्म, उत्पन्न होते हैं वह प्रवाह से अनादि हैं, और स्वरूप से सादि हैं, सारांश यह है कि यह जगत् प्रवाह से अनादि है और स्वरूप से सादि है॥

(८) नाम रूप की रचना का नाम सृष्टि है। "रचनाऽनुपपत्तेश्चनाऽनुमानम्" ब्र० सू० २।१।१ इस सूत्र में सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्म से बिना नहीं हो सक्ती यहकहा है और इस सूत्र में इस बात को भी स्पष्टकिया है कि उत्पत्ति केवल रचनाकी ही होती है न कि नित्य द्रव्यों की। इसलिये आर्य्य मन्तव्यों में सृष्टि का कर्त्ता ब्रह्म माना गया है न कि नित्य द्रव्यों का॥

(९) नवें में सृष्टि का प्रयोजन वर्णन किया गया है। सृष्टि का प्रयोजन ईश्वर के सामर्थ्य की सफलता है, जैसे कि नेत्रादि तभी सफल होते हैं जब उनका कोई विषय हो, इसी प्रकार ईश्वर का सामर्थ्य भी तभी सफल होता है जब उसका कोई कार्य्य हो। इस विषय में यह प्रश्न हुआ करता है कि जब अकस्मात् ईश्वर ने सृष्टि उत्पन्न करदी तो कोई बड़ा और कोई छोटा क्यों बना? यदि पूर्व कर्म सापेक्ष सृष्टि उत्पन्न की तो कर्म कहां से आए? क्योंकि कर्म तब होंगे जब शरीर होगा, और शरीर तब होगा जब प्रथम कर्म हो चुकेंगे। इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष आने से कर्म अनादि सिद्ध नहीं हो सक्ते? इसका उत्तर यह है कि अन्योऽन्याश्रय दोष तब आता यदि जिन कर्मों से जो शरीर बना है उस शरीर से फिर वही कर्म उत्पन्न होते, पर ऐसा नहीं होता, किन्तु उस शरीर से और कर्म उत्पन्न होते हैं और फिर उन कर्मों से और शरीर उत्पन्न होता है, एवं बीजाङ्कुर के समान यह प्रवाह अनादि है इस लिये कोई दोष नहीं। जिनके मत में जीव, जीवों के कर्म, प्रकृति यह अनादि नहीं उनके मत में सृष्टि रचने का प्रयोजन वर्णन नहीं किया जा सक्ता॥

एवं मायावादि वेदान्तियों के मत में भी सृष्टि रचने का कोई प्रयोजन नहीं हो सक्ता, क्योंकि उनके मत में सृष्टि से प्रथम ब्रह्म एक ही था, और उसी अभिन्ननिमित्तोपादानकारण से सृष्टि बन गई इस मत में ब्रह्म का प्रयोजन सृष्टि रचने का कोई कथन नहीं किया जा सकता॥

(१०) दशवें में सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर माना गया है और यह मन्तव्य स्पष्ट है इस लिये व्याख्यान की आवश्यक्ता नहीं ॥

(११) बन्ध स्वभाविक है या नैमित्तिक ? इस बात का निर्णय इस मन्तव्य में किया गया है । बन्ध को नैमित्तिक माना है अर्थात् अविद्या रूपी निमित्त से होता है, जैसा कि:—

अन्धंतमः प्रविशन्ति ये ऽविद्यामुपासते ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳरताः ॥ ई० वा० उ० ९

अर्थ—वह लोग (अन्धतम) नाम गाढ़ अविवेक रूपी बन्धन को प्राप्त होते हैं जो अविद्या की उपासना करतें हैं, अर्थात् अविद्या ग्रस्त हैं । ओर वह भी अन्धतम को प्राप्त होते हैं जो (विद्या) नाम ज्ञान के अभिमान में ही रत हैं कर्म नहीं करते। इत्यादि मंत्रों से बन्ध अविद्याजन्य कर्म कृत सिद्ध होता है और विद्या जन्य कर्म से उसकी निवृत्ति होती है ॥

(१२) इस बारहवें में मुक्ति का निरूपण है । "मुक्ति" जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति आदिकों के समान जीव की अवस्था विशेष है, इस मुक्ति अवस्था में जीव के इन्द्रियादि भी उसके साथ रहते हैं जैसाकि 'भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्' ब्र० सू० ४।४।११ अर्थ-(भावं) नाम शरीर और इन्द्रियों का मुक्ति में भाव पाया जाता है, जैमिनि आचार्य्य विकल्प के कथन पाए जाने से ऐसा मानते हैं, वह विकल्प यह है "स एकदा भवति द्विधा भवति त्रिधा भवति" छा० ७।२६।२। इत्यादि वाक्यों में यह

पाया जाता है कि वह एक प्रकार से होता है, दो प्रकार से होता है, तीन प्रकार से होता है। आशय इसका यह है कि उसकी एक प्रकार की शक्ति होती है दो प्रकार की होती है तीन प्रकार की होती है, एवं सहस्र प्रकार की शक्तियें उक्त वाक्य में कथन की गई हैं। और यह शक्तियें विना शरीर इन्द्रियों के नहीं हो सक्तीं, इससे पाया जाता है कि मुक्ति में शरीर रहता है। जब मुक्ति में शरीर और इन्द्रियें पाए जाते हैं तो फिर यह कैसे कहा जा सक्ता है कि पुनरावृत्ति नहीं होती? क्योंकि जैसे इस लोक के शरीर से पुनरावृत्ति होती है ऐसे परलोक के शरीर से भी पुनरावृत्ति होती है। जो लोग मुक्ति से पुनरावृत्ति नहीं मानते उनको यह भी मानना चाहिये कि मुक्ति में शरीर और इन्द्रियों का भाव नहीं रहता, और ऐसा मानने पर शङ्कर मत के समान मुक्ति हो जाती है जिसमें शरीर इन्द्रिय तो क्या प्रत्युत अहंभाव भी नहीं रहता, अर्थात् मैं सुखी हूं जीव यह भी नहीं जान सक्ता, केवल पाषाण तुल्य हो जाता है ऐसी मुक्ति वेद और उपनिषदों में कहीं भी निरूपण नहीं की गई। जिस वाक्य से स्वामी शङ्कराचार्य्य जी ने पुनरावृत्ति ली है जैसे कि:—

आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याहिꣳसन्त्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्त्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते नचपुनरावर्त्तते नचपुनरावर्त्तते। छा० अंत० ॥

अर्थ–जब कि यह जीव सब इन्द्रियों को अपने आधीन कर लेता है और किसी प्राणी मात्र की हिंसा नहीं करता, (अन्यत्र तीर्थेभ्यः) नाम पवित्र स्थानों से भिन्न हिंसा नहीं करता अर्थात् पवित्र स्थानों में जाने के लिये जो हिंसा अवर्जनीय है उस में उसको कोई दोष नहीं। एवं सम्पूर्ण आयु वर्ताव करने वाला पुरुष ब्रह्म लोक को प्राप्त होता है। और "नच पुनरावर्तते" के अर्थ यह हैं कि फिर उसको ब्रह्मोपासना में आवृत्ति नहीं करनी पड़ती। और दूसरा "पुनरावर्त्तते" उपनिषद् की समाप्ती के लिये आया है॥

दूसरी वात यह है कि लोक्य तेति लोकः जो दर्शन का विषय हो उसका नाम लोक है, अर्थात् स्थान विशेष का नाम लोक है। जब स्थान विशेष लोक है तो फिर पुनरावृत्ति कैसे नहीं। क्योंकि जब चन्द्रलोकादिकों से वादी के मत में पुनरावृत्ति मानी जाती है तो फिर ब्रह्मलोक से पुनरावृत्ति कैसे नहीं? पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र ने "भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्" इस सूत्र के यह अर्थ किये हैं कि ब्रह्म लोक की प्राप्ति रूप जो मुक्ति है उसमें शरीर और इन्द्रियों का भाव जैमिनि आचार्य्य मानते हैं, जब ब्रह्मलोक की प्राप्ति रूप मुक्ति में शरीर और इन्द्रियों का भाव मान लिया तो फिर शेष मुक्ति कौनसी रही जिसमें पुनरावृत्ति का निषेध किया गया है? क्योंकि "नचपुनरावर्त्तते नच पुनरावर्त्तते" इस वाक्य में भी तो ब्रह्मलोक की प्राप्ति रूप ही मुक्ति है, इस में स्पष्ट यह लिखा है कि "ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते" अर्थात् ब्रह्म लोक को प्राप्त होता है।

इसी आशय को लेकर श्रीकृष्णजी गीता में लिखते हैं कि "आब्रह्म भुवना लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्ज्जुनमामुपेत्यतु कौन्तेयपुनर्जन्म न विद्यते" अर्थ—ब्रह्म लोक को प्राप्त हुए पुरुष पुनः लौट आते हैं पर मुझको प्राप्त होकर हे अर्जुन फिर नहीं जन्मते। इस वाक्य में कृष्णजी ने भी मुक्ति से पुनरावृत्ति मानी है। रही यह बात कि यह जो कहा कि मुझ को प्राप्त हो कर फिर जन्म नहीं होता यह अर्थवाद है अर्थात् उसका यह अर्थ नहीं कि वास्तव में फिर जन्म नहीं होता किन्तु परान्तकाल तक फिर जन्म नहीं होता इस अभिप्राय से यह कहा गया है॥

मुक्ति से पुनरावृत्ति का दृढ़ प्रमाण यह है कि "भोगमात्र साम्यलिंगाच्च" ब्र॰ सू॰ ४।४।२१ में यह लिखा है कि मुक्ति में जीव को ब्रह्म के साथ भोग मात्र में समता होती है अर्थात् जैसे ब्रह्म आनन्दमय है इस प्रकार जीव भी मुक्ति अवस्था में आनन्द को भोगता है, जो लोग बल पूर्वक यह दिख-लाते हैं कि सर्व शास्त्र का यह सिद्धान्त है कि मुक्ति से पुनरा-वृत्ति नहीं होती, उनके मत में भोग मात्र में ही जीव ब्रह्म की समता क्यों? प्रत्युत सभी गुणों में समता होनी चाहिये! अना-वृत्ति में समता, विभु होने में समता, ऐश्वर्य्य में समता, नित्य ज्ञान में समता, एवं ब्रह्मवत् सर्व गुण सम्पन्न ही जीव उनके मत में होना चाहिये था। फिर सूत्रकार ने भोग मात्र में ही समता क्यों मानी? और तर्क यह है कि यह सूत्र "अनावृत्तिः शब्दाद नावृत्तिःशब्दात्" इससे पर्व, का है अर्थात् "भोगमात्र

साम्य लिङ्गाच्च" इक्कीस का है और उक्त सूत्र बाईस का है जब पूर्व सूत्र में भोग मात्र में समता वर्णन की गई है तो उत्तर सूत्र इससे विरुद्ध कैसे हो सकता है? हमारे विचार में तो "अनावृत्तिशब्दादनावृत्तिःशब्दात्" यह शारीरक का अन्तिम सूत्र इस इक्कीस के सिद्धान्त को ही दृढ़ करता है कि (अनावृत्ति)नाम आवर्त्तनं आवृत्तिः—पुनः २ परमेश्वर के अभ्यास का नाम यहां आवृत्ति है। न आवृत्ति अनावृत्तिः अर्थात् जिस अवस्था में अभ्यास रूप आवृत्ति नहीं अर्थात् मुक्ति में "आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्योनिदिध्यासितव्य" बृ० ४। ५। ६। एवं आवृत्ति नहीं होती। इस अभिप्राय से सूत्र कार ने कहा है कि "अनावृत्तिःशब्दादनावृत्तिः शब्दात्" इसने पूर्व सूत्र के इस अर्थ को दृढ़ किया कि "सोऽश्नुतेसर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" अर्थ—वह मुक्त जीव ब्रह्म के साथ सब आनन्दों को भोगता है, अर्थात् ब्रह्म समानआप्त काम हो जाता है, इसी भोगमात्र में उसकी समता पाई जाती है इसलिये भोग के साथ मात्र शब्द आया है। मात्र शब्द यह सिद्ध करता है कि भोग में ही जीव ब्रह्म की समता है अन्य बातों में नहीं। इस बात की सिद्धि का बड़ा प्रमाण यह है "जगद्व्यापारवर्ज्जंप्रकरणादसन्निहितत्वाच्च" ब्र० सू० ४। ४। २७। अर्थ—(जगद्व्यापारवर्ज्ज) नाम मुक्त पुरुष का ऐश्वर्य्य जगत् के व्यापार को छोड़कर होता है (प्रकरणात्) यह बात प्रकरण से पाई जाती है। प्रकरण यह है कि सम्पूर्ण जगत्

के कर्त्ता होने के प्रकरण में ब्रह्म का ही कथन पाया जाता है जैसे कि—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येनजातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसम्विशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तदब्रह्म तै० ३।१॥

अर्थ–जिससे यह सब भूत निकलते हैं और जिससे आविर्भूत हुए जीते हैं, और जिसमें फिर प्रवेश कर जाते हैं उसकी जिज्ञासा करो वह ब्रह्म है। (असन्निहितत्वात्) नाम जिन वाक्यों में ब्रह्म को जगत् कर्त्ता कहा गया है उन में जीव का सम्बन्ध भी नहीं पाया जाता, इससे भी पाया गया कि जब मुक्त पुरुष का ऐश्वर्य्य जगत् रचने में ईश्वर के बराबर नहीं होता तो अनावृत्ति में ईश्वर के बराबर कब हो सकता है। उक्त मुक्त पुरुष विषयक सब सूत्रों की सङ्गति विस्तार भय से यहां नहीं लिखी जाती विस्तार पूर्वक देखना हो तो वेदान्तार्य्यभाष्य अध्याय ४ के चौथे पाद में देख लेवें। और जो दो वेद मंत्र ऋ०मं० १ सू० २४ मं० १।२। मुक्ति विषय में स्वामीजी ने दिये हैं उनके पौराणिक लोग यह अर्थ करते हैं कि अजीगर्त्त नाम वाला एक राजर्षि एक खड्ग लेकर शुनःशेप को मारने आया, उस समय की शुनःशेप की यह प्रार्थना है मुक्त पुरुष की नहीं? इसका उत्तर यह है कि जैसा उनका यह आक्षेप है कि यहां मुक्त पुरुष का नाम नहीं, एवं यहां शुनःशेप का भी नाम नहीं, और नाही अजीगर्त्त का, फिर उन्होंने यह कहानी कहां से घड़ली। यदि यह कहा

जाय कि इससे आगे के मंत्रों में जाकर शुनःशेप का नाम है जैसाकि "शुनःशेपोह्यह्वद्गृभीतः" ऋ० मं० १ सू० २४ मंत्र १३ इसके अर्थ यह हैं कि शुनःशेप जो विद्वान् है वह परमात्मा का आह्वान करता है इससे शुनःशेप कोई पुरुष विशेष नहीं पाया जाता किन्तु जिज्ञासु ही पाया जाता है जिनमें उक्त जिज्ञासु की प्रार्थना है वह मंत्र यह हैं ॥

(१) कस्यनूनंकतमस्यामृतानांमनामहेचारु देवस्यनाम । कोनो मह्या अदितये पुनर्दात्पितरं च दृशेयं मातरञ्च ॥ ऋ० मं० १ सू० २४ मं० १।

(२) अग्नेर्वयं प्रथमस्या मृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम । स नो मह्या अदितयेपुनर्दात्पितरं च दृशेयं मातरंच ॥ ऋ० मं० १ सू० २४ मं० २।

अर्थ–(१) यहां जिज्ञासु यह प्रश्न करता है कि विनाश रहित वस्तुओं में से हम किसको मानें ? और वह कौन देव है जिसका नाम श्रेष्ठ है ? जो हमें फिर पृथ्वी को प्राप्त कराता है, और माता पिता के फिर दर्शन कराता है ? इस अगले मंत्र में इस बात का उत्तर है ॥

(२) (अग्नि) नाम अग्रणी सर्वोपरि जो परमात्मा है उस देव का नाम श्रेष्ठ है उसकी हम उपासना करें, वह हमको पृथ्वी को प्राप्त कराता है, और वही फिर हमको माता पिता के दर्शन कराता है ॥

इससे यह पाया जाता है कि फिर माता पिता के दर्शन की इच्छा यहां मुक्त पुरुष ही करता है। क्योंकि छान्दोग्य में लिखा है कि "सङ्कल्पादेवास्यपितरःसमुत्तिष्ठन्ति" इस लेख से पाया गया कि माता पिता का सङ्कल्प मुक्ति अवस्था में भी होता है। वह लोग इसका यह उत्तर दिया करते हैं कि जिस में ऐसा संकल्प होता है वह लोक विशेष की प्राप्ति रूप मुक्ति है वास्तव में मुक्ति नहीं। यह उनका कथन साहस मात्र है क्योंकि "भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्" इस सूत्र में हम सिद्ध कर आए हैं कि ब्रह्म लोक प्राप्ति रूप मुक्ति में भी शरीर इन्द्रियों का भाव बना रहता है फिर पितृ लोक का सङ्कल्पक्रम मुक्ति में कैसे कहा जाता है। इस प्रकार पूर्वोत्तर निरीक्षण करने से यह ज्ञात होता है कि मुक्ति एक ब्रह्म के अपहतपाप्मादि गुणों के धारण करने की अवस्था विशेष है और वह शुभ कर्मों से प्राप्त होती है। "उत्पाद्य, प्राप्य, संस्कार्य्य, विकार्य्य" उक्त चार प्रकार की मुक्ति का स्वामी शंकराचार्य्यजी ने खण्डन करके "अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितं महान्तंविभुमात्मानं मत्वाधीरो न शोचति" कठ० २। २२। इत्यादि प्रमाणों से जो स्वामी शंकराचार्य्यजी ने यह सिद्ध किया है कि मुक्ति में शरीर नहीं रहता और मुक्ति धर्म कार्य्य भी नहीं, यह शास्त्र के आशय से सर्वथा विरुद्ध है और उक्त वाक्य परमात्मा को अशरीरी कहता है नकि जीव को? एवं धर्म कार्य्य होने से हमारे मत में मुक्ति उत्पाद्य है, धर्म से मुक्ति उत्पादन की जाती है, इसी लिये महर्षि

कणाद ने यह कहा है "यतोऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धिसधर्मः"

(१३) इसमें मुक्ति के साधन अभ्यासादि कर्म कथन किये गए हैं, जिनका वर्णन "ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्नित्यादि" उपनिषद् वाक्यों में स्पष्ट है, इसमें (सद्विद्या) यथार्थ ज्ञान को ही मुक्ति का साधन माना है, इस प्रकार ज्ञान कर्म का समुच्चय मुक्ति का साधन हुआ ॥

मायावादियों के समान केवल ज्ञान ही मुक्ति का साक्षात् साधन नहीं, उनके मतमें कर्मों से मुक्ति का निषेध है। और "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेतिनान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इस श्रुति से मुक्ति का एक मात्रज्ञान ही साधन माना है और वह ज्ञान जीव ब्रह्म की एकता रूप है। पर उक्त ज्ञान से मुक्ति कदापि नहीं होती क्योंकि वाक्य जन्य ज्ञान से कभी अनर्थ की निवृत्ति नहीं देखी गई, और जो यह कहा जाता है कि "रज्जूरियं नायं सर्पः" इत्यादि वाक्यों से सर्व रूप अनर्थ की निवृत्ति देखी जाती है यह भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसी निवृत्ति भ्रम स्थल में ही होती है, और यह जगत् भ्रम नहीं है किन्तु अनित्य है अर्थात् प्रलयकाल पर्य्यन्त स्थायी है। फिर उसकी निवृत्ति वाक्य जन्य ज्ञान से कैसे होसक्ती है। और जो यह कहा है कि "तमेवविदित्वाऽतिमृत्युमेति" यहां अति मृत्यु नाम मुक्ति ब्रह्म वेदन से ही होती है। यहां ब्रह्म वेदन से यथार्थ ज्ञान का तात्पर्य्य है और वह यथार्थ ज्ञान श्रवण, मनन, निदिध्यासनादिकों से विना नहीं होता, इस लिये कर्म और ज्ञान का समुच्चय

हुआ, और वह ज्ञान जीव ब्रह्म की एकता रूप नहीं किन्तु ईश्वर का यथार्थ ज्ञान है ॥

(१४) से १९ तक मन्तव्य स्पष्ट हैं उन में व्याख्या की आवश्यक्ता नहीं ॥

(२०) में विद्वानों को देव, और अविद्वानों को असुर, पापियों को राक्षस और अनाचारियों को पिशाच लिखा है। यहां देव शब्द के अर्थ श्रीस्वामीजी ने विद्वानों के माने हैं इससे हमारे सनातनी भाई बहुत घबराते हैं, और घबराने का कारण यह है कि जहां मनुस्मृति आदिकों में देवों की पूजा लिखी है वहां जब देव के अर्थ विद्वानों के होगए तो उनकी देव शब्द से मूर्त्तिपूजा तो उड़ गई और जिन स्थलों में देव शब्द से अलौकिक देवों का ग्रहण करके अपने चित्त को सन्तुष्ट करते थे वहां जब देव विद्वान् ही रह गए तो फिर क्यों न घबराएं, हमारे विचार में तो देव शब्द अनेकार्थ बाची है, कहीं देव सूर्य्य चन्द्रमादि भौतिक पदार्थों का नाम है, कहीं देव परमात्मा का नाम है और कहीं देव दिव्यगुण सम्पन्न मनुष्यों का नाम है एवं देव के अनेक अर्थ हैं। जहां देव शब्द मनुष्यों में आया है वहां स्वामी जीने विद्वानों के अर्थ लिये हैं। जैसा कि कृष्णजीने गीता में कहा है "द्वौभूतसर्गौलोकेऽस्मिन् दैव आसुर एवच" गी० १६।६ यहां देव शब्द मनुष्य का वाची है। एवं अथर्व वेद कां० १९ अ० ७ सू० १२ में यह लिखा है ॥

"नैतांविदुःपितरोनोत देवाः" उस परमात्मा की शक्ति

को न पितर जानते हैं न देव जानते हैं, इस वाक्य में पितरों से भिन्न देव शब्द विद्वानों के लिये आया है, उस शक्ति की दुर्विज्ञेयता दिखलाने के अभिप्राय से यहां ऐसा कहा है, और सायण भी यहां ऐसे अर्थ करता है कि "देवास्त्रयस्त्रिंशत्देवव्यतिरिक्ताअन्येदेवा न विदुः" अर्थ–तेतीस देवों से भिन्न जो और देव हैं वह यहां अभिप्रेत हैं, और पितृ शब्द के सहचार से देव शब्द यहां मनुष्यों काही वाचक होसक्ता है। यदि कोई यह कहे कि पितृ शब्द भी पौराणिक देवों के समान यहां अलौकिक जाति काही वाचक है? इसका उत्तर यह है कि "मातृदेवोभव पितृदेवोभव" इत्यादि उपनिषद्वाक्यों में पितृ शब्द मनुष्य जाति में प्रसिद्ध है फिर अलौकिक कल्पना क्यों? रही बात यह कि कहीं देव शब्द ईश्वर वाचक, और कहीं भौतिक देवों का वाचक, और कहीं विद्वानों का वाचक क्यों है? इसका उत्तर यह है कि मुख्य तो परमात्मा का ही नाम देव है, परंतु गौणीवृत्ति से भौतिक देव और विद्वानों का भी नाम होता है। और ऐसे अनेक अर्थों के वाचक प्रायः शब्द आते हैं जो प्रकरणानुकूल अर्थ देते हैं। और पिशाच भी अलौकिक पदार्थ नहीं जैसा कि अथर्व वेद कां० ८ अ० ३ सू० ६ में यह मंत्र है:—

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः।
गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि ॥

अर्थ–जो पिशाच (आमं) नाम अपक्व अर्थात् कच्चे मांस को खा जाते हैं, और मनुष्य के मांस को खा जाते हैं, और गर्भधारी

प्राणियों को भी मारकर खा जाते हैं (तां) उनको (इतः) नाम इस संसार से हम नाश करें, यदि कोई यह प्रश्न करे कि इस मंत्र में राक्षस अथवा पिशाच का नाम नहीं है ? तो उत्तर यह है कि इसी काण्ड का मंत्र १३ यह है:—

य आत्मानमतिमात्रमंस आधाय विभ्रति। स्त्रीणां श्रोणिप्रतोदिन इन्द्र रक्षांसि नाशय ॥ १३ ॥

अर्थ—जो (आत्मान) नाम प्राणियों को (अतिमात्रं) नाम अत्यन्त (अंसे आधाय) नाम अपने वश में करके (विभ्रति) नाम व्यवहार करते हैं। अर्थात् मनुष्यादि प्राणियों को सर्वथा वशीभूत करके पशुओं के समान स्वाधीन करते हैं और जो स्त्रियों को दुःख देते हैं हे इन्द्र परमात्मन् (रक्षांसि) नाम ऐसे राक्षसों को (नाशय) इस संसार से नाशकर। इस मंत्र में स्पष्ट राक्षस पद पड़ा है और इसमें वर्णन भी ऐसे पापियों का किया गया है जो अलौकिक नहीं हैं इसलिये राक्षस पिशाच पापी जनों का ही नाम है कोई अलौकिक योनि नहीं ॥

(२१) इसमें यह वर्णन किया है कि साकार पदार्थों में से माता, पिता, आचार्य्यादि, प्राणियों की पूजा करना ही देवपूजा कहाती है नकि मूर्त्यादि जड़ पदार्थों की, जिन लोगों ने वैदिक मंत्र तथा तर्क का सहारा लेकर ईश्वर विषयक मूर्त्तिपूजा का मण्डन किया है उनका खण्डन यहां वैदिक मंत्र तथा तर्कों से किया जाता है। जहां कहीं वेद में प्रतिमा शब्द आता है मूर्त्ति-पूजक लोग उसको ईश्वर की प्रतिमा की ओर लेजाने की असन्त

चेष्टा करते हैं, और जहां कहीं ईश्वर की प्रतिमा के निषेधके अभिप्राय से प्रतिमा शब्द आता है जैसेकि "नतस्यप्रतिमास्ति" उसके प्रतिमा से भिन्न अर्थ करने में कटिबद्ध हो जाते हैं, इस बात को हम "नतस्यप्रतिमास्ति" इस मंत्र में दिखला आए हैं, अब देखिये कि:—

सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमासि। सहस्रस्योन्मासि साहस्रोऽसि सहस्रायत्वा॥ यजु० १५। ६५।

इस मंत्र में प्रतिमा शब्द आया है, इसके अर्थ भी सनातनी लोग यही करते हैं कि हे परमात्मन् तुम (सहस्रस्य) नाम असंख्यात जो यह जगत् है उसकी प्रमा हो, प्रमीयते यया स प्रमा, (सहस्रस्य प्रतिमासि) असंख्यात जगत् की मूर्त्ति हो, और (सहस्रोऽसि) तुम असंख्यात जगत् रूप हो। (सहस्रायत्वा) सहस्रनाम अनन्त फल के लिये त्वा नाम तुम्हारी प्रार्थना करता हूं। महीधर इस मंत्र को अग्नि विषय में लगाते हैं कि हे अग्ने "सहस्रस्येष्टकानांप्रमाप्रमाणंत्वमसिसहस्रस्यप्रतिमाप्रतिनिधिरसि" अर्थ—हे अग्ने असंख्यात ईटों का तुम प्रमा प्रमाण हो, और सहस्रों के तुम प्रतिमा प्रतिनिधिहो॥

महीधर के अर्थ से यह प्रतीत होता है कि सनातनियों के सनातन समय में "सहस्रस्यप्रतिमासि" इत्यादि मंत्र मूर्त्तिपूजा को सिद्ध नहीं करते थे। इस मंत्र के अर्थ यह हैं कि हे विद्वन् (सहस्रस्य प्रमासि) असंख्यात पदार्थ युक्त जगत् की तुम (प्रमा) नाम यथार्थ ज्ञान हो, और उस जगत् की तुम (प्रतिमा) नाम दृष्टान्तादिकों से तुलना करने वाले हो, और

फिर तुम कैसे हो कि (उन्मा) नाम उसमें से तुम प्रत्येक पदार्थ की तुलना करने वाले हो, अर्थात् सदसद् विवेचन रूपी तुला पर रखकर सत्यासत्य को तोल देते हो। इस लिये (सहस्राय) नाम सहस्र प्रयोजनों के लिये परमात्मा ने तुम्हें बनाया है ॥

तंयज्ञंबर्हिषिप्रौक्षन्पुरुषजातमग्रतः। तेनदेवा अयजन्त साध्या ऋषयश्चये॥ यजु० ३१।९।

इस मंत्र से मूर्त्तिपूजक यह आश्रय लेते हैं कि (तंयज्ञं) नाम उस यज्ञ पुरुष को देवता और ऋषि लोगों ने पूजन किया जो सब सृष्टि से प्रथम उत्पन्न हुआ था ॥

पहला दोष इस अर्थ में यह है कि वह जब सृष्टि से प्रथम उत्पन्न हुआ, उसकी सेवा करने वाले साध्य और देवता उस समय कहां थे? और दूसरी बात यह है कि महीधर ने इस मंत्र को पशु यज्ञ में लगाया है, कि उस यज्ञरूप पशु को यूप में बंधन करके प्रोक्षणादि संस्कारों से उसका संस्कार किया, अस्तु यहां विचारार्ह यह है कि जब यज्ञ शब्द के अर्थ–विष्णु व्यापक परमात्मा के हैं तो फिर साकार की पूजा इससे कैसे सिद्ध हुई। यजु० ३१। १६ "यज्ञेनयज्ञमयजन्तदेवाः" इस मंत्र में यह बात स्पष्ट है कि यज्ञ नाम परमात्मा का है, और दूसरा यज्ञ नाम सामग्री साधनरूप उस वैदिक कर्म का है जिसकी कोई प्रतिमा हो नहीं सक्ती, एवं यज्ञ के दोनों अर्थों में मूर्त्तिपूजा सिद्ध नहीं हो सक्ती ॥

इस मंत्र के अर्थ यह हैं कि उस यज्ञरूप पूजनीय परमात्मा का

ज्ञानयज्ञ से ऋषि लोग पूजन करते हैं। वह पुरुष कैसा है जो इस सब कार्य्यरूप सृष्टि से (अग्रतः) नाम प्रथम है (तेन) नाम उसके दिये हुए वेदरूपी हेतु से। (साध्या) योगी लोग और (ऋषयः) मंत्र दृष्टा लोग (अयजन्त) नाम यज्ञ करते हैं। इसमें तो ज्ञानयज्ञ से पूजा लिखी है फिर मूर्त्तिपूजा कहां रही। क्योंकि ज्ञानयज्ञ तो मूर्त्तिपूजकों के मत में भी निराकार को ही बोधन करता है न कि साकार को। जैसा कि गीता में लिखा है कि :—

"श्रेयानद्रव्यमयात्यज्ञात्ज्ञानयज्ञःपरंतप।
सर्वंकर्माखिलंपार्थज्ञानेपरिसमाप्यते" गी० ४। ३३।

अर्थ–(द्रव्यमयात् यज्ञात्) नाम द्रव्यरूप यज्ञ से ज्ञानरूपयज्ञ (श्रेयान्) नाम श्रेष्ठ है, क्योंकि सब कर्म ज्ञानयज्ञ में जाकर समाप्त हो जाते हैं, और मूर्त्तिपूजकों का यह सिद्धान्त भी है कि अज्ञानावस्था में ही मूर्त्तिपूजा की विधि है नकि ज्ञानावस्था में॥

अन्धन्तमः प्र विशन्ति येऽसम्भूति मुपासते। ततो भूयइवते तमो य उ संभूत्याᳺरताः॥ यजु० ४०।९।

यह मंत्र स्पष्टतया मूर्त्तिपूजा का निषेध करता है कि (असंभूति) नाम प्रकृति और (संभूति) नाम प्रकृति का कार्य्य उक्त दोनों पदार्थों की पूजा करने वाले (अन्धतम) नाम अविद्या अन्धकार को प्राप्त होते हैं॥

स्वामीजी के अर्थों पर आक्षेपता लोगों ने इस मंत्र के अर्थों में ब्रह्म के स्थान में प्रकृति की उपासना करना इस पकड़ को पकड़ा है, पहले यह दोष पं० साधुसिंह ने निकाला है, और फिर

उसी का अनुकरण पं० ज्वालाप्रसादमिश्र ने किया है, उक्त दोनों पुरुषों ने इतना भी नहीं सोचा कि प्रकृति और प्रकृति के कार्य्य की उपासना का जो निषेध किया गया वह किस अभिप्राय से किया गया है, वास्तव में वेद भगवान् का आशय यह था कि प्रकृति और प्रकृति के कार्य्य की उपासना करने वाले इसलिये नारकीय हैं कि वह उपास्य देव से भिन्न की उपासना करते हैं अर्थात् उपास्य के स्थान में अनुपास्य की उपासना करते हैं तो फिर यहां ब्रह्म के स्थान में प्रकृति की उपासना करने का निषेध यह अर्थ क्यों बुरा है? और जो पं: ज्वालाप्रसादमिश्र ने यह लिखा है कि ब्रह्म के स्थान में प्रकृति की उपासना कहना यह प्रतीकोपासना हुई, हम कब कहते हैं कि यह प्रतीकोपासना नहीं, पर भेद तो इतना है, हम यह कहते हैं कि यहां प्रतीकोपासना का निषेध है जैसाकि "नतस्यप्रतिमास्ति" में है, यदि यह कहा जाय कि वेद समकाल में प्रतीकोपासना थीही नहीं फिर निषेध क्यो? तो "अन्धन्तमःप्रविशन्तियेऽविद्यामुपासते" जब वेद समकाल में अविद्या की उपासना थी ही नहीं तो फिर वदे भगवान् ने इस मंत्र में अविद्या की उपासना का निषेध क्यों किया? शास्त्र रीति से तो ज्ञान से प्राप्त वस्तुओं का भी निषेध हुआ करता है, यदि सर्वथा प्राप्त वस्तुओं का ही निषेध हुआ करता तो उनके मतमें "येऽविद्यामुपासते" इसका क्या उत्तर है? हां एक उत्तर हो सक्ता है कि उनके मत में स्वाश्रय स्वविषय होकर अविद्या ब्रह्म में रहती है, एवं नित्य प्राप्त के अभिप्राय से निषेध किया गया है। इसी प्रकार हमारे मत में भी यह उत्तर हो

सक्ता है कि दस्यु लोग अर्थात् वेदविहित कर्मों से विरुद्ध आचरण करने वाले लोग वेद समकाल से चले आते हैं इस लिये ऐसे लोगों में प्रकृति और प्रकृति के कार्य्य की उपासना प्राप्त थी इस लिये प्राप्त का ही निषेध किया गया है अप्राप्त का नहीं ॥

और बात यह है कि जब वह लोग सनातन होने का दम भरते हैं और प्रत्येक सनातन भाष्य का सत्कार करते हैं फिर स्वामीजी के अर्थों पर रोष क्यों? क्योंकि इस मंत्र के भाष्य में महीधर और स्वामी शङ्कराचार्य्यजी ने प्रकृति और प्रकृति के कार्य्य की उपासना काही निषेध किया है फिर उनके अर्थों से अरुचि क्यों? और जो उन्होंने यह लिखा है कि प्रकृति और प्रकृति के कार्य्य की भिन्न २ उपासना करने का निषेध है समुच्चय का निषेध नहीं, इसके प्रमाण के लिये उन्होंने यह मंत्र उद्धृत किया है :—

संभूतिंचविनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳसह। विनाशेन मृत्युं तीर्त्वासम्भूत्यामृतमश्नुते॥यजु०४०।११

इस मंत्र के महीधर ने ज्ञानकर्म के अर्थ किये हैं कि (विनाश) नाम कर्मों से अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा (संभूत्या) नाम आत्म ज्ञान से अमृत को पाता है। यह हमभी स्वीकार करते हैं कि यहां समुच्चयवाद है पर ज्ञानकर्म का, नकि प्रकृति और प्रकृति के कार्य्य की उपासना का। और जो पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने संभूति से पूर्व लुप्तअकार माना है जिससे असंभूति शब्द बनाकर प्रकृति का अर्थ लेना चाहा है यह शैली उनकी अलौकिक है,

पर फिर भी उनका मनोर्थ सिद्ध नहीं होता क्योंकि स्वामी शं० चा० और महीधर यह सनातन भाष्यकार उनसे विरुद्ध हैं, और जो यह लिखा है कि "ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्" ब्र० सू० ४।१।५ इस सूत्र में ब्रह्मदृष्टि से कार्य्य की उपासना सिद्ध की है, यहां सर्वथा सूत्र का अनर्थ किया गया है, यह सूत्र प्रतीकाधिकरण का है इससे पूर्व यह सूत्र है कि "न प्रतीके न हि सः" अर्थ–(प्रतीके) नाम मूर्ति में परमेश्वर की उपासना नहीं करनी चाहिये, क्योंकि (नहि स) नाम वह परमेश्वर मूर्ति नहीं है । उसीमें हेतु यह है कि "ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्" ब्रह्मणो दृष्टि-ब्रह्मदृष्टि, अर्थात् ब्रह्मज्ञान प्रतीकोपासना से उत्कृष्ट नाम श्रेष्ठ है इसलिये भी मिथ्याज्ञान रूपी जो मूर्ति पूजा है वह नहीं करनी चाहिये । और जो "अथ मृत्पिण्डमुपादायत्रीन्महावीरान्करोति प्रादेशमात्रंमध्ये संगृहीतमथास्योपरिष्टान्त्र्यङ्गुलंमुखमुन्नयतिनासिकामिवा स्मिन्नेतद्दधातीति" ब्रा० श० १४।१।२।१७।

अर्थ–मिट्टी का पिण्ड लेकर तीन महावीरों को बनाता है जिन की लम्बाई मध्य में प्रादेश मात्र है और ऊपर तीन अंगुलियों का मुख बनाकर उसी में नासिका बनाता है, इत्यादि ब्राह्मण वाक्यों में महावीर एक यज्ञ पात्र विशेष है इससे मूर्त्तिपूजा का क्या सम्बंध । यह भी स्मरण रहे कि हम ब्राह्मण ग्रंथों को वेदा-नुकूल होने से मानते हैं । इस बात को हम मत्स्यावतार की कथा में स्पष्ट लिख आए हैं कि हम ऐसे ग्रंथों को स्वतः प्रमाण नहीं मानते जिनमें ऐसी असम्भव बातें हैं । इसमें संदेह नहीं कि बहुत

सी बातें अध्यास से ब्राह्मणग्रन्थों में वर्णन की गई हैं जैसा कि यज्ञ पुरुष का सिर कट जाना, और यही बात पुराणों में और बढ़ाकर लिखी गई जैसा कि देवीभागवत में लिखा है कि एक समय विष्णुभगवान का सिर कट गया था उस समय सब देवताओं ने प्रार्थना की। एवं बहुत से अनृतभाषण ब्राह्मण ग्रन्थों में हैं जिन्होंने पुराणों में आकर एक भयानक आकार धारण कर लिया है, इस लिये यहां हमने ब्राह्मण वाक्यों की समीक्षा नहीं की वेद मन्त्रों पर जो मूर्त्तिपूजकों को सहारा था वह निराकरण किया गया॥

अब तर्क से मूर्त्तिपूजा का खण्डन किया जाता है। अब मूर्त्तिपूजक लोग यह कहते हैं कि हम मिट्टी पत्थर की मूर्त्ति की पूजा नहीं करते किन्तु मूर्त्ति में व्यपाक जो परमेश्वर है उसकी पूजा करते हैं। जैसे कि (हम कभी पत्थर मिट्टी की पूजा नहीं करते किन्तु मिट्टी पत्थर के आश्रय से उसी सच्चिदानन्द परमपुरुषोत्तम की पूजा करते हैं) मूर्त्तिपूजा पं० अम्बिकादत्तव्यास पृ० ७

अब पौराणिक फ़िलासफ़ी में मूर्त्तिपूजा शब्द के तीन अर्थ होते हैं, मूर्त्ति की पूजा, मूर्त्ति से पूजा, मूर्त्ति में पूजा, प्रथम अर्थ को तो अब आर्य्यसमाज से भयभीत हुए पौराणिक स्वीकार ही नहीं करते, शेष दोनों को स्वीकार करते हैं, हम इनके सिद्धान्त को ही दृष्टांन्त रूप रखकर इनका खण्डन करते हैं कि:—

योयो यांयां तनुर्भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धांतामेव विदधाम्यहम्॥गी० ७।२१

इस पर स्वामी शं० चा० का यह भाष्य है कि "योयोयांयां देवतातनुश्रद्धयार्चितुमिच्छति" अर्थ–जो पुरुष जिस २ देवता की मूर्त्ति का श्रद्धा से पूजन करता है, यहां तो स्वामी शंकराचार्य्य जी ने भी देवता की मूर्त्तिपूजन के ही अर्थ किये हैं नाकि मूर्त्ति में देवता पूजन के, फिर तुम मूर्त्ति की पूजा से कैसे भाग सक्ते हो ? यदि कोई हम पर यह आक्षेप करे कि कहीं तुम शङ्कर का आश्रय लेकर मूर्त्तिपूजा का खण्डन कर देते हो, कहीं उनका आश्रय लेकर मूर्त्तिपूजा का मण्डन करते हो, यह परस्पर विरोध क्यों ? इसका उत्तर यह है कि परमत दृष्टान्त से परमत खण्डन यही कहलाता है कि जो उनके सिद्धान्त से उनका विरोध बतलाना है । रही यह बात कि स्वामी शं० चा० को कहीं मूर्त्तिपूजा का खण्डन करता,कहीं मण्डन करता क्यों उद्धृत किया जाता है ? इसका उत्तर यह है कि यह परस्पर विरोध रूपी दोष भी उनके मत में ही लगता है, पर प्रकृत यह है कि जब स्वामी शं० चा० जैसे वृद्धाचार्य्य मूर्त्तिपूजा के अर्थ मूर्त्ति की पूजा ही मानते थे, तो फिर आज कलके तुच्छ जीव मूर्त्ति अधिकरण में पूजा वा मूर्त्तिकरण से पूजा, मूर्त्ति में पूजा, और मूर्त्ति से पूजा इत्यादि शुष्क तर्क बढ़ाकर सनातन धर्म से क्यों विरोध करते हैं ॥

और जो मूर्त्ति को करण मानकर मूर्त्तिपूजा की सिद्धि की जाती है वह भी ठीक नहीं, क्योंकि करण उसको कहते हैं कि जो व्यापार वाला हो और असाधारण कारण हो, सो मूर्त्ति-पूजन ईश्वर प्राप्ति का असाधारण कारण नहीं, क्योंकि जो लोग मूर्त्तिपूजा नहीं करते उनको भी ईश्वर प्राप्ति होती है, और जब

वेदाध्ययन शम दमादि अनेक साधन ईश्वर प्राप्ति के हैं फिर इस तुच्छ साधन का आश्रय सर्वथा अनुपयुक्त है ॥

केवल अनुपयुक्त ही नहीं प्रत्युत ऐसा भूल का कारण है कि इस मूर्त्तिपूजा रूपी भूल भुलैयों में पड़कर मनुष्य मनुष्य जन्म के फल चतुष्टय से ऐसा भूल जाता है कि फिर कभी उस रास्ते पर नहीं आता, जैसा कि वर्त्तमान काल की मूर्त्तिपूजा का चित्र दिखला रहा है कि सहस्रों लोग मूर्त्तिपूजकों के शृंगार पथ में सम्मिलित होकर शम दमादि साधन सम्पत्ति से गिरकर सर्वथा नाश हो जाते हैं "कौन्तेयप्रतिजानिहिनचमेभक्तःप्रणश्यति" इस गीता वाक्य से सर्वथा उलटा फल होता है, अर्थात् मूर्त्ति-पूजकों की विहार लीला, मान लीला, चीर लीला, रास लीला, इत्यादि अनन्त लीलाओं में लम्पट होकर कोटि २ नर नारी लोक परलोक से भ्रष्ट हो जाते हैं, इस अभिप्राय से स्वामी जी ने यह कहा है कि इतर पाषाणादि जड़ मूर्त्तियों को सर्वथा अपूज्य समझता हूं ॥

और जो मूर्त्ति में पूजा का अर्थ, मूर्त्तिपूजा के किये जाते हैं, यह एक ऐसा सिद्ध साधन है जिस से बिचारे मूर्त्तिपूजक लोग अपने चित्त को मूर्त्तिपूजा की सिद्धि का सन्तोष दे लेते हैं वरन मूर्त्ति में व्यापक समझकर मूर्त्तिपूजा की सिद्धि करने से मूर्त्ति-पूजकों को क्या लाभ! जब इस ब्रह्माण्ड के अणु २ में परमात्मा व्यापक है तो फिर इस निखिल ब्रह्माण्ड के एक देश तुच्छ मूर्त्ति के अन्दर उसकी व्यापकता क्यों विशेष समझी जाती है ? बहुत

क्या हम इस कथा को शारीरक का एक अधिकरण लिखकर समाप्तकरते हैं। "नचकार्य्येप्रत्यभिसंधि" ब्र०सू०४।३।१४।

अर्थ—(कार्य्ये) नाम प्रकृति के कार्य्य मूर्त्ति में कभी ध्यान नहीं करना चाहिये, इसी पर स्वामी शंकराचार्य्य ने "नतस्य प्रतिमास्ति" के अर्थ को स्पष्ट किया है कि "नतस्य प्रतिमास्ति यस्यनामसमहद्यशः" इतिचपरस्यैव ब्रह्मणोयशोनामत्व प्रसिद्धेः" शं० भा० अर्थ—"नतस्यप्रतिमास्ति" इस मंत्र में परब्रह्म के यश का ही वर्णन है नकि साकार का, मूर्त्तिपूजकों के लिये यह परम प्रमाण है कि "नतस्यप्रतिमास्ति" में परब्रह्म की मूर्त्ति का निषेध किया गया है। यदि कोई यह शङ्का करे कि शंकर ने पर और अपर यह दो ब्रह्म माने हैं तो जब उनके प्रमाण को उद्धृत करते हैं तो उन दोनों का स्वीकार क्यों नहीं करते ! इसका उत्तर यह है कि उनका काम दो प्रकार के ब्रह्म मानने से बिना नहीं चल सक्ता, क्योंकि मायावाद में यही महत्व है कि जब तक दो प्रकार का ब्रह्म न माना जाय तब तक उनके अद्वैतवाद की सिद्धि नहीं होती, अस्तु हम को तो इस दृष्टान्त में विवक्षितांश यह है कि सनातनियों के बड़े आचार्य्य भी "नतस्य प्रतिमास्ति" के अर्थ मूर्त्तिपूजा के निषेध के ही मानते हैं ॥

इति मूर्त्तिपूजन निषेधो नाम एक विंशति
मन्तव्यः समाप्तः

—:०:—

(२२) "शिक्षा" जिससे इस संसार का अभ्युदय बढ़े, और अविद्यादि निखिल दोष दूर हों, उसको स्वामी जी ने धर्म शिक्षा माना है ॥

(२३) इस में पुराणों का प्रकरण है, आशय यह है कि आर्ष ग्रन्थों में जहां २ पुराणों का नाम मिलता है वह ब्राह्मण ग्रंथों के लिये आया है भागवतादि अष्टादश पुराणों के लिये नहीं,क्योंकि भागवतादि अष्टादश पुराणों का तो उस समय जन्म भी नहीं हुआ था। स्वामीजी के मन्तव्यों पर आक्षेप करने वाले लोग भागवतादि ग्रंथों को पुराण समर्थन करने के लिये प्राचीन ग्रंथों से जो प्रतीकें देते हैं उनसे यह सिद्ध नहीं होता कि उस समय भागवतादि ग्रंथों को पुराण कहा जाता था, उन प्रतीकों को लिखकर हम पुराण शब्द का आशय वर्णन करते हैं कि पुराण शब्द उससमय ब्राह्मण ग्रन्थों के अभिप्राय से आया है वा किसी अन्य अभिप्राय से ? "इतिहासः पुराणङ्गाथा नाराशंस्यः स एवं विद्वाननुशासनानि विद्या वाकोवाक्यमितिहास पुराणी, गाथा, नाराशंसीरित्यहरहः स्वाध्यायमधीते इत्यादि" शत० अ० ११ प्र० २। इस वाक्य का आशय यह है कि इतिहास पुराण गाथा और नाराशंसी नाम मनुष्यों के जीवन चरित्र ग्रन्थ, (वाकोवाक्य) तर्क शास्त्र इत्यादि ग्रन्थों को प्रतिदिन स्वाध्याय करें, इस वाक्य से यह नहीं पाया जाता कि यहां पुराण शब्द भागवतादिकों के लिये आया है प्रत्युत यह पाया जाता है कि यहां पुराण शब्द ब्राह्मण ग्रन्थों के लिये आया है। क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों का वाचक और कोई शब्द इसमें नहीं

और जो पं० ज्वालाप्रसादमिश्र ने निम्न लिखित वाक्य का उदाहरण दिया है:—

"क्षीरोदनमांसौदनाभ्यां ह्वाएषदेवांस्तर्पयतिएवंविद्वान् वाकोवाक्यमितिहासः पुराणमित्यहरहः स्वाध्यायमधीते त एनन्तृप्तास्तर्पयन्ति सर्वैः कामैः सर्वैर्भोगैः" शतपथ०

हमारे मन्तव्य में यह वाक्य प्रक्षिप्त है, क्योंकि इसमें देवताओं को मांस से तृप्त करना लिखा है, स्यात् उनके अलौकिक देवता ऐसे हों जो मांस से तृप्त होते हों, हमारे विचार में तो देवताओं को मांस से तृप्ति जनक वाक्य मांसाहारी देवता प्रिय लोगों के डालेहुए हैं इस लिये ऐसे वाक्यों का कोई प्रमाण नहीं। और आगे जो यह लिखा है," अरेऽस्यमहतो भूतस्य निश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसइतिहासः" श० प्र० ४ ब्रा० ४

उस सर्वोपरि परमात्मा का ऋग्, यजु, साम, अथर्व, श्वासवत् हैं, और इतिहास पुराणादि भी निश्वासवत् हैं यहां भी पुराण शब्द ब्राह्मणों के लिये आया है, क्योंकि यहां यदि ब्राह्मण ग्रन्थों का वाची पुराण शब्द न माना जाय तो और कोई यहां ब्राह्मण ग्रन्थवाची शब्द नहीं है और पं० ज्वालाप्रसादमिश्र ने जो यह लिखा है कि "इसमें इतिहास पुराण आदि पांच नाम पृथक् २ ग्रहण किये हैं॥

क्या पांच नाम पृथक् २ ग्रहण किये जाने से पुराण शब्द भागवतादिकों को कहता है? पांच क्या योंतो यहां ६ नाम पृथक् २ ग्रहण कियेगए हैं, पर इन नामों का भागवतादि ग्रन्थों से क्या सम्बन्ध? और निम्न लिखित छान्दोग्य लिखकर यह

सिद्ध किया है कि यहां इतनी विद्या कथन करके फिर पुराण शब्द पृथक् है इससे भी यह सिद्ध नहीं होता कि भागवतादिकों का नाम पुराण है। "सहोवाचऋग्वेदंभगवतोध्येनियजुर्वेदं सामवेदमथर्वणंचतुर्थमितिहास पुराणं पंचमं वेदानांवेद पित्र्यं राशिंदैवंनिधिं वाकोवाक्यमेकायनंदेवविद्यां, ब्रह्म विद्यां,भूतविद्यां,क्षत्रविद्यां,नक्षत्रविद्यां,सर्प,देव, जन, विद्यामेतद्भगवोऽध्येमि" ॥ छा० प्र० ७ अर्थ—नारद ने सनत्कुमार को कहा कि हे भगवन् ऋग् , यजु, साम, और अथर्व इन चार वेदों को मैं पढ़ता हूं और पांचवें वेद, इतिहास पुराण को। यहां वेद शब्द इतिहास पुराण में उपचार से आया है अर्थात् गौणी वृत्ति से आया है, क्योंकि ज्ञान का साधन होने से गौणी वृत्ति से इनको भी वेद कहा जा सकता है, और यहां पुराण शब्द का इतिहास शब्द विशेषण है, अर्थात् पुराण और इतिहास शब्द यहां एकही अर्थ को कहते हैं, और (पित्र्यं) नाम श्रद्धा पूर्वक जो पिता पितामहादिकों की सेवा विधायक शास्त्र है, और राशि, गणितशास्त्र, निधिकालगति ज्ञानशास्त्र, वाकोवाक्य तर्क-शास्त्र, एकायन नीतिशास्त्र, (देवविद्या) इन्द्रियोंकीवशीभूत करने की विद्या, और (ब्रह्मविद्या) जीव ईश्वर सम्बन्धी वेदान्त विद्या, (भूतविद्या)तत्वोंकी विद्या, जिससे पृथिव्यादि तत्वों के गुण जाने जायें, (क्षत्रविद्या)क्षात्रधर्म की विद्या,(नक्षत्रविद्या) तारामण्डल की विद्या, (सर्पदेवजनविद्या) सांपके काटने की विद्या, विद्वानों के गुणादि पहचानने की विद्या, जन मनुष्यों की विद्या, यह भी

स्मरण रहे कि इस वाक्य में दो स्थानों में देव शब्द आया है इसलिये विचारे सनातनियों को देव शब्द के अर्थ दोही करने पड़ेंगे, भला एक देव शब्द के अर्थ तो इनके अलौकिक देवता होगए, पर दूसरे देव शब्द के अर्थ क्या ? हमारे मत में तो यहां दूसरा देव शब्द जन शब्द के साथ आया है जिसके अर्थ जन विशेष के ही होते हैं, अस्तु यह प्रकरणान्तर है, प्रकृत यह है कि नारद ने सनत्कुमार से कहा कि हे भगवन् मैं इतनी विद्या जानता हूं, फिर भी मैं मन्त्रवेत्ता ही हूं आत्मवेत्ता नहीं ॥

उक्त विद्याओं में पुराण शब्द का आना यह सिद्ध नहीं करता कि पुराण शब्द का वाच्य उस समय भागवतादि पुराण थे। आगेफिर"अस्यमहतोभूतस्यनिश्वसितं"इस बृहदारण्यक की प्रतीक देकर पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने भागवतादिकों को पुराण सिद्ध किया है हमारी समझ में यह बात नहीं आती कि पुराण शब्द आजाने से ही भागवतादि ग्रन्थों का ग्रहण कैसे हो सक्ता है ? यदि यह कहा जाय कि इतिहास से भिन्न पुराण शब्द आया है इसलिये पुराण भागवतादिकों का ही नाम है, तो यह क्या सत्तर्क हुआ ? क्योंकि "सर्गश्चप्रतिसर्गश्चवंशोमन्वन्तराणि च। वंशानुचरितं चैव पुराणंपञ्चलक्षणम्" अर्थ–सर्ग सृष्टि की उत्पत्ति और प्रतिसर्ग–एक २ भूगोल का वर्णन, वंशो का वर्णन, और मन्वन्तरों का वर्णन और वंशों के चरित्रों का वर्णन उक्त पांच लक्षणों वाले पुराणों में, क्या इतिहास नहीं आजाता? फिर आपके मन्तव्य में इतिहास का ग्रहण पृथक् क्यों किया ? और हमारे मत में तो ऐत्रेयादि ब्राह्मण ग्रन्थों का प्राचीन होने

के कारण पुराण कहा गया है, और उनमें इतिहास पाए जाने से उनको इतिहास शब्द से भी कहा है, इसी अभिप्राय से स्वामी जीने यह कहा है कि इतिहास और पुराण यह दोनों नाम आर्ष ग्रंथों में ब्राह्मण ग्रंथों के अभिप्राय से ही आते हैं, और यदि भागवतादिकों के अभिप्राय से आते तो जैसे छान्दोग्य में मनुस्मृति का नाम है इस प्रकार अठारह पुराणों को लिखते हुए क्या बहुत भार था? तत्व तो यह है कि आर्षग्रंथों के समय भागवतादि पुराणों का जन्म ही नहीं था फिर उनका नाम आर्ष ग्रंथों में कैसे आता। और जो आश्वलायन सूत्रों का प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि उक्त सूत्रों में ब्राह्मण, कल्प, गाथा, नाराशंसी, इतिहास, पुराण, यह भिन्न २ नाम आए हैं इससे पाया जाता है कि ब्राह्मण ग्रंथों का नाम पुराण नहीं? इसका उत्तर यह है कि जैसे बृहदारण्यक के "अस्यमहतोभूतस्यनिश्वसितं" इस वाक्य में आपने सब ग्रंथों को परमात्मा के श्वासवत् माना है, यहां विद्या शब्द से उपनिषद् आही चुके थे फिर उपनिषदों का पृथक् ग्रहण क्यों किया? जैसे यहां विवरणार्थ उपनिषद् शब्द पृथक् ग्रहण किया गया है इसी प्रकार यहां भी ब्राह्मण, कल्प, गाथा, नाराशंसी, इतिहास, पुराण, यह शब्द विवरणार्थ आए हैं अर्थात् उत्तरोत्तर शब्द पूर्व शब्द के आशय को स्पष्ट बोधनार्थ पर्याय शब्द दिये गए हैं। और जो भाष्यकार ने प्रयोग विषय में इतिहास पुराण शब्द का प्रयोग किया है उस स्थान में पुराण शब्द के अर्थ यदि व्यास कृत पुराणों के थे तो कल्प, नाराशंसी यह भाष्यकार ने प्रयोग विषय में क्यों न लिखे? अब बतलाओ

कि प्रयोग विषय में इनका ग्रहण किस शब्द से होता है? यदि इतिहास, पुराण शब्द से ही इनका ग्रहण है तो फिर स्वामीजी के इस लेख से क्यों घबराते हो कि पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा और नाराशंसी यह एक ही अर्थ को कहते हैं ॥

वादियों के शिथिल प्रमाणों पर समीक्षा निष्फल है, वादी का बल यह है कि यह बात वेद से भी स्पष्ट हो गई, द० तिमि० भा० पृ० ५३ द्वितीयावृत्ति वह वेद यह है:—

स बृहतीं दिशमनुव्यचलत् ॥ १० ॥
तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चा नुव्यचलत् ॥ ११ ॥

इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियंधाम भवति य एवंवेद ॥१२॥ अथर्व० १५ । १ । ६ ॥

अर्थ—वह बड़े उच्च मार्ग को प्राप्त होता है, इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी उसका अनुकरण करते हैं और वह पुरुष इतिहास, पुराण गाथा नाराशंसी का प्रियधाम हो जाता है जो इस प्रकार जानता है ॥

उक्त मंत्रों में जो पुराण शब्द आया है वह आधुनिक पुराणों के लिये नहीं आया किन्तु एक प्रकार की विद्या के लिये आया है। और जो इससे यह आशय लिया जाता है कि इतिहास

शब्द से भिन्न पुराण शब्द के आने से पुराण इतिहास से भिन्न है? इसका उत्तर तो हम प्रथम लिख आए हैं कि आधुनिक भागवतादिकों को पुराण मानने वाले भी उनको इतिहास से सर्वथा पृथक् नहीं कर सक्ते। क्योंकि उनके पुराणों में भी इतिहास है॥

यदि यह कहा जाय कि आर्ष्य मन्तव्यानुकूल भी पुराण शब्द के वाच्य ब्राह्मण ग्रंथ वेदके समय में न थे, फिर उनके लिये पुराण शब्द क्यों आया? इसका उत्तर यह है कि उक्त अथर्व वेद के मंत्रों में जो इतिहास पुराणादि नाम आए हैं वह विद्या के अभिप्राय से आए हैं, किसी ग्रंथ विशेष के अभिप्राय से नहीं, यदि ग्रंथ विशेष के अभिप्राय से आते तो वेद इन ग्रंथों का आशय अवश्य लेते, और वेद का स्वतस्त्व भी न रहता। यदि यह कहा जाय कि त्रिकालज्ञ परमेश्वर ने भविष्यत का ध्यान धर के यहां भविष्यत काल में होने वाले पुराणादिकों का नाम लिख दिया, तो फिर भविष्यत का ध्यान धरके दर्शनादि शास्त्रों का नाम क्यों न लिखा? यह भाव ऐसा स्पष्ट है कि जिसको कोई छिपा नहीं सक्ता कि वेदोपनिषद् और आर्ष ग्रंथों में जो पुराण शब्द आया है वह भागवतादिकों के लिये नहीं आया, और जो यह गोपथ का प्रमाण लिखा है:—

"एवमिमेसर्वेवेदानिर्मितास्सकल्पाःसरहस्याःस ब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सान्वाख्याताः स पुराणाः स स्वराः स संस्काराः स निरुक्ताः सानुशासनाः सानुमार्जनाः स वाकोवाक्यास्तेषां यज्ञमभिपद्यमानानां

क्रियते नामधेयंयज्ञमित्येवमाचक्षते" (गोपथ द्वि० प्रपा०)

अर्थ–इस प्रकार यह सब वेद बनाए गए। (सकल्पाः) कल्प के साथ (सरहस्याः) रहस्य के साथ, (सब्राह्मणाः) ब्राह्मण ग्रंथों के साथ (सोपनिषत्काः) उपनिषदों के साथ, (सेतिहासः) इतिहासों के साथ (सान्वाख्याताः) संज्ञा के साथ (सपुराणाः) पुराणों के साथ, (सस्वराः) स्वरों के साथ (स संस्काराः) संस्कारों के साथ, (स निरुक्ताः) निरुक्त के साथ इत्यादि। यहां पं० ज्वाला प्रसादमिश्र यह बल दिखलाते हैं कि यहां इतिहास, ब्राह्मण पुराण, यह भिन्न २ पड़े हैं इससे यह पाया जाता है कि ब्राह्मणों का नाम इतिहास पुराण कदापि नहीं? पर उक्त पण्डितसाहब ने यहां यह नहीं सोचा कि वह तो ब्राह्मण ग्रंथों को वेद मानते थे यहां तो ब्राह्मण ग्रंथ कुछ और ही बन गए, यदि यह कहा जाय कि ठीक तो है (स ब्राह्मणाः) के अर्थ यह है कि वेद ब्राह्मणों के साथ ही उत्पन्न हुए, एवं ब्राह्मण ग्रंथ और वेद एक हो गए? इसका उत्तर यह है कि (सवाकोवाक्याः) भी तो लिखा है तो क्या न्यायदर्शन भी वेद है? यदि यह कहा जाय कि न्यायदर्शन की विद्या बीज रूप से वेद में है इस लिये (स वाको वाक्याः) कहा है, एवं ब्राह्मण ग्रंथों की भी तो विद्या वेद में है फिर (सब्राह्मणाः) कहने से क्या दोष है, एवं विचार करने से सारांश यह निकलता है कि यहां ब्राह्मणादि नाम किसी ग्रंथ विशेष के अभिप्राय से नहीं आए, किन्तु विद्या विशेष के अभिप्राय से आए हैं॥

और यह भी यहां स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ब्राह्मण ग्रंथों के विषय में महाभारत में यह प्रमाण मिलता है॥

ततः शतपथं कृत्स्नं सरहस्यं ससंग्रहं चक्रे स परिशेषञ्च हर्षेण परमेण ह । म० भा० शा० प० अ० ३१८ । १६ ॥

अर्थ—याज्ञवल्क्य कहते हैं कि सम्पूर्ण शतपथ को मैंने बनाया । और आगे के श्लोक में यह प्रतीक है कि "शतपथं चेदमपूर्वं कृतं मया" कि यह अपूर्व शतपथ मैंने बनाया । इत्यादि प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि शतपथादि ब्राह्मण ग्रंथों को याज्ञवल्क्यादि ऋषियों ने बनाया, तो फिर (स ब्राह्मणाः) इत्यादि वाक्यों से वेद समकाल में ब्राह्मण ग्रंथों का वर्णन कैसे आसक्ता है, इसलिये यहां (स ब्राह्मणाः) इत्यादि कथन ब्रह्म ज्ञानादिकों को कथन करता है किसी ग्रंथ विशेष को नहीं । और जो मनुस्मृति के श्लोक देकर पुराण शब्द से आधुनिक भागवतादिकों को सिद्ध किया है इस में मनु के समय की तो कथा ही क्या किन्तु स्वामी शं० चा० के समय में भी भागवत पुराण न था, इसका परम प्रमाण यह है कि कहीं भी भागवत का प्रमाण स्वामी शं० चा० जीने शारीरक भाष्यादिकों में नहीं दिया, और जहां २ "इत्याहुः पौराणिका" यह कहकर श्लोक प्रमाण दिये हैं वह भागवत के नहीं किन्तु अन्य पुराणों के हैं । बहुत क्या यह पुराण ऐसे नवीन हैं कि जिन में से कई एकका तो मुसलमानों की राजधानी में निर्माण हुआ है, इसी लिये उन में मन्दिरादि तोड़े जाने का कथन है, फिर ऐसी नवीन पुस्तकों को स्वामी जी आर्ष कैसे मानते ?

(२४) इस में दुःख सागर से पार उतरने के हेतु, सत्य भाषण, विद्या, सत्संगादि माने हैं, वही तीर्थ शब्द का वाच्य हो सक्ते हैं इतर जल स्थलादि नहीं, क्योंकि वैदिक तथा औपनिषद् समय में जड़ जल स्थलादि तीर्थ नहीं माने जाते थे ॥

इसको पौराणिक लोग इस प्रकार समर्थन करते हैं:—

नमः पार्य्याय च वार्य्याय च नमः प्रतरणाय चोत्तरणाय च नमस्तीर्थ्याय च कूल्याय च नमः शष्प्याय च फेन्याय च ॥ यजु० अ० १६ । ४२ ।

इस मंत्र के पं० ज्वालाप्रसादमिश्र ने यह अर्थ किये हैं कि हे शिव सब प्रकार से सब में श्रेष्ठ सब संसार के पार उतारने हारे हो, क्योंकि आप तीर्थ रूप हो जैसे गंगा, अथवा आप तीर्थों में पर्य्यटन करते हो, आपके अर्थ नमस्कार और तीर्थों के घाट किनारे रूप आपके लिये नमस्कार, (शष्प्य) अर्थात् गौ रूपी, सेनारूपी, सिक्तारूपी हो आपको बारंबार नमस्कार है । (नमः तीर्थ्याच) यह पद इसी हेतु में है कि आप प्रयागादि तीर्थों में विचरते हो ॥

समीक्षा—इस मंत्र के पण्डित साहब ने अलौकिक अर्थ यह किये हैं कि आप तीर्थ रूप हो जैसे गंगा, अथवा आप तीर्थों में पर्य्यटन करते हो, यह किस पद के अर्थ हुए ? उक्त मंत्र में (तीर्थ्यायच) यह शब्द है जिसके अर्थ आप कहीं तीर्थरूप के करते हैं, कहीं तीर्थों में पर्य्यटन करने के करते हैं, जो परस्पर विरुद्ध हैं । यदि

सर्वात्मवाद के अभिप्राय से तीर्थ रूप है तो वह पर्य्यटन नहीं कर सक्ता, जो पर्य्यटन करता है वह सर्वात्मवाद के अभिप्राय से तीर्थ रूप नहीं हो सक्ता (कुल्यायच) के अर्थ यह किये हैं कि तीर्थों के घाट भी आप ही हैं, ऐसे परस्पर असम्बद्ध अर्थ किये हैं जो न केवल अनुभव विरुद्ध हैं किन्तु वेद की सङ्गति सेभी विरुद्ध हैं, इससे पूर्व "नमः सम्भवायच मयोभवायच" यह मंत्र है। इसके अर्थ निर्विशेष शिव के हैं, ओर सब आचार्य्य इसके निराकार के ही अर्थ करते हैं फिर अगले मंत्र में तीर्थों के घाट बनने वाला परमेश्वर पं० ज्वालाप्रसादमिश्रने कहां से निकाल लिया। अस्तु यदि यह कहा जाय कि इस में (कूल्य) शब्द पड़ा है—कूलेभवः—कूल्यः—जो किनारे में हो उसको कूल्य कहते हैं, इस अर्थ से भी तो घाट में व्यापक पाया गया, फिर आपने घाटरूप कैसे निकाल लिया?

मालूम यह होता हैं कि इसी अध्याय के मंत्र २८ का ध्यान धरके पण्डित साहब ने यह अर्थ किये हैं उसमें "नमः श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च" यह पाठ है, इसके अर्थ महीधर ने यह किये हैं "श्वानः कुक्करास्तद्रूपिभ्योनमः" अर्थ—(श्वा) नाम कुत्तों का है, कुत्ते रूप जो परमेश्वर है उसको नमस्कार है। पर यहां यह अर्थ नहीं शोभते, क्योंकि इसी में वादी यह अर्थ करता है कि संसार से पार उतारने हारे हो, फिर इसी में यह अर्थ करता है कि घाट का किनारा हो, और पानी की झाग हो, गंगा के किनारे का घास हो, इस प्रकार कहीं उत्पत्ति बिनाश वाला सब

कुछ परमेश्वर, कहीं संसार से पार उतारने वाला परमेश्वर, यह परस्पर विरुद्धार्थ हैं। अस्तु प्रसङ्ग सङ्गति से यह कहा गया, पर खण्डन योग्य बात यह है कि वादी तीर्थ शब्द से जो गंगा यमुनादि तीर्थ सिद्ध करता है यह बात ठीक नहीं, क्योंकि यदि केवल तीर्थों में ही उसका होना पाया जाता, या कुछ तीर्थ की विशेषता वर्णन की जाती तब वादी का अभिमत सिद्ध होता, पर यहां तो वादी ने इस विशेषतां को मिटाकर घास पात सभी कुछ परमेश्वर बना दिया॥

यहां यह भी स्मर्ण रहे कि तीर्थ नाममात्र से वादी के अभिमत की सिद्धि नहीं होती क्योंकि तीर्थ शब्द का मुख्यार्थ यह है कि जो मनुष्य के तराने का हेतु हो अर्थात् उद्धार का उपाय हो, इस अर्थ में सहस्रों स्थानों में तीर्थ शब्द का प्रयोग लौकिक भाषा में भी आया है जैसे कि

"सत्यंतीर्थंक्षमातीर्थंतीर्थमिन्द्रियनिग्रह। सर्वभूतदया तीर्थं" इत्यादि एवं दानंतीर्थंदमस्तीर्थंसन्तोषस्तीर्थमुच्यते। ब्रह्मचर्य्यपरंतीर्थं तीर्थञ्चप्रियवादिता॥ इत्यादि अनेक प्रमाण तीर्थ के विषय में हैं।

अब वादी दूसरे ढङ्ग पर चलता है कि वेद में गंगा यमुना सरस्वती के नाम हैं इससे पाया जाता है कि वहां इन्हीं गंगा यमुनादि तीर्थों का अभिप्राय है जैसेकि:—

इमंमेगंगेयमुने सरस्वतिशुतुद्रि स्तोमं स च ता परुष्ण्या। असिक्न्यामरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये

शृणुह्यासुषोमया। ऋ० मं० १० अ० ६ सू ७५ मं ५
सरस्वती सरयुः सिंधुरूर्मिभिर्महोमहीरवसायंतु वक्षणीः। देवीरापोमातरः सूदयित्न्वोघृतवत्पयो मधुमन्नोअर्चत। ऋ० मं० १० अ० ५ सू० ६४ मं० ९

उक्त मंत्रों के अर्थ यदि वादी कृत भी मानेजायें तवभी तीर्थ सिद्ध नहीं होते। वादी के अर्थ यह हैं कि "हे गंगे, यमुने तुम सम्पूर्ण मेरे यज्ञको सन्मुख होकर सेवन करो, हे मरुद्वृधे, आर्जकीये, परुष्णी, आसिक्नी, वितस्ता, सुषोमा के साथ मेरे यज्ञ को सेवन करो, मेरी स्तुतियों को सव प्रकार से सुनो।

यहां यह विचार करना है कि यदि गंगादि नदियों के अधिष्ठातृ देवता नहोंतो उनका आह्वान यह किस प्रकार है, और स्तुति श्रवण की प्रार्थना कैसे की है? इस कारण गंगादि तीर्थों को अतीर्थ कहना अज्ञान है ति० भा० पृ० ३८३ द्वि० पृ० इन अर्थों से इस प्रकार तीर्थ सिद्ध नहीं होते क्योंकि मेरे यज्ञ को सन्मुख होकर सेवन करो यह कहना उपचार से बन सक्ता है। और जो यह कहा है कि (यदि गंगादि नदियों के अधिष्ठातृ देवता न होते तो उनका अह्वान न होता) अस्तु अधिष्ठातृ देवता रहें इससे तीर्थ पक्ष में क्या फल? सनातन धर्म में तो सव वस्तुओं के अधिष्ठातृ देवता हैं तो क्या वह सव तीर्थ हो जाते हैं? इस धर्म में मिट्टी का अधिष्ठातृ देवता है, पानी का अधिष्ठातृ देवता है, अग्नि का अधिष्ठातृ देवता है, यदि अधिष्ठातृ देवता से ही तीर्थ सिद्ध होते हैं तो घर में घड़े के पानी से न्हाकर ही क्यों नहीं

मनोरथ सिद्ध कर लिया जाता, क्योंकि उसका भी तो अधिष्ठातृ देवता चेतन है । इस मत में छज छाननी आदि सब पदार्थों के अधिष्ठातृ देवता हैं, इस अधिष्ठातृ देवता से विचारे तीर्थों का क्या बना ॥

अधिष्ठातृ देवता से तीर्थ सिद्ध न होने का और प्रमाण यह है कि

तत्तेज ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति ता आप ऐक्षन्त ॥ छा० ६ । ३ ॥

अर्थ–तेज, (अग्नि) ने, इच्छा की कि मैं बहुत होकरके उत्पन्न होऊं इस लिये उसने जल को बनाया और फिर जलों ने इच्छा की उन्होंने अन्न को रचा, इत्यादि स्थलों में जड़ पदार्थ निष्ठ ईक्षण सब आचार्य्यों ने गौण माना है इसी प्रकार यहां भी गौणी वृत्ति से गंगा यमुनादिकों में श्रवणादि व्यवहार कथन किये गए हैं फिर आपका अधिष्ठातृ देवता कहां रहा । सरांश यह निकला कि गंगा यमुना सरस्वती शतुद्रि आदि नदियों वाले विस्तृत भूमण्डल पर परमात्मा कहता है कि यज्ञ कर्त्ता अपने भाव को फैलावें, ऐसा फैलावें कि यज्ञ का भाव और स्तुति नभोमण्डल में ऐसी परिपूरित हो जावे कि मानों जड़ पदार्थभी सुनलें ॥

इस में यह प्रश्न हो सक्ता है कि आर्य्यावर्त्त की नदियों का नाम ही वेद में क्यों आया और देशान्तरों की नदियों का नाम क्यों नहीं ? क्योंकि वेद तो ईश्वर ने सब देशों के लिये साधारण बनाया है ? इसका उत्तर यह है कि यहां गंगादि नाम रूढ़ि नहीं किन्तु योगरूढ़ि हैं, जैसे कि गच्छतीतिगंगा, येनाम सब

नदियों में घट सक्ते हैं एवं देश विशेष की नदियों का प्रश्न नहीं हो सक्ता ॥

यदि यह कहा जाय कि प्रसिद्धि से तो गंगा यमुना में ही यह नाम पाए जाते हैं? इसका उत्तर यह है कि प्रसिद्धि लोक के आधीन है जैसा कि सहस्रधार शब्द वेद में आया है और अब देहरादून में अन्वर्थ संज्ञा वाला सहस्रधार एक स्थान विशेष है क्या कोई कह सक्ता है कि वेद में इसी स्थान विशेष के लिये सहस्र धार शब्द आया है, प्रत्युत वास्तव में यह है कि सहस्रधार शब्द जो वेद में आया है उसको देखकर किसी ने इस पहाड़ विशेष का नाम भी सहस्रधार रख दिया, एवं गंगा यमुनादि शब्द जो वेद में आए थे उनको देखकर लोगों ने उक्त नदी विशेषों के नाम भी गंगा यमुना रखे, इस प्रकार उक्त नामों से वेदों में तीर्थ सिद्ध नहीं होते ॥

और जो ऋग्वेद का तीर्थ सिद्धि में यह मंत्र प्रमाण दियाहै कि:-

आपो भूयिष्ठा इत्येको अब्रवीदग्निर्भूयिष्ठइत्यन्यो अब्रवीत् । वर्धयन्तीं बहुभ्यः प्रैकोअब्रवीद्दतावदं तश्चमसां अपिंशत ॥ ऋ० मं० १ अ० २२ सू० १६१ मं० ६ ॥

इस मंत्र में तो वादी को अर्थाभास के लिये भी गंधमात्र नहीं मिलता । अर्थ यह हैं कई लोग कहते हैं कि यज्ञों का फल जलीय पदार्थ बहुत होता है, कई कहते हैं कि आग्नेय पदार्थ बहुत होता है, और कई कहते हैं कि पार्थिव पदार्थ बहुत होता

है, क्योंकि उक्त पदार्थ सभी यज्ञों का फल हैं इसलिये सभी ठीक कहते हैं, इस आशय से यज्ञ के पात्रों का विभाग करें। भला इसमें तीर्थ की क्या कथा? और जो (ऋतावदन्तः) के यह अर्थ किये हैं कि जितेन्द्रिय सत्यवादी को तीर्थ फल देते हैं, इसका मंत्र में गंधमात्र भी नहीं, होता भी कैसे, वेद के समय की तो क्या कथा महाभारतादिकों के समय में जिन नामों में तीर्थ का गंधमात्र न था वह आज बड़े तीर्थ कहलाते हैं जैसाकि आज जिस स्थान में पुष्करतीर्थ है और जो पौराणिकों के विचार में पृथ्वी के दो नेत्रों में से एक नेत्र है महाभारत में उसका नाम पुष्करारण्य लिखा है, उस समय इस स्थान के तीर्थ होने की कोई चर्चा न थी, इसी प्रकार पौराणिकों के सहस्रों तीर्थ ऐसे हैं, कोई कृष्णजी के जन्म से बना है, कोई कृष्णकर्म से बना है, कोई कृष्णलीला से बना है, कहां तक कहें, कोई किसी मूर्त्ति पर डाका डालने से बना है, जैसे डाकोर जी इत्यादि। इस बात को हम पं० ज्वाला-प्रसाद के मन्तव्यसमीक्षण में भी लिख आए हैं इसलिये यहां अधिक लेख की आवश्यक्ता नहीं॥

(२८) इसमें प्रारब्ध और पुरुषार्थ का वर्णन है, कई लोग यह शङ्का किया करते हैं कि प्रारब्ध कर्म हमको अवश्य भोगने पड़ते हैं इसलिये पुरुषार्थ निष्फल है? इसमें विवेचनीय बात यह है कि प्रारब्ध कर्म भी पुरुषार्थ से बनते हैं, वह इस प्रकार कि कर्म तीन प्रकार के हैं क्रियमाण जो वर्त्तमान काल में किये जाते हैं, और जब तक उनका कोई फल नहीं होता आत्मा में संस्कार रूप हो कर रहते हैं तब तक सञ्चित कहलाते हैं। और जब फल देने के

लिये अभिमुख हो जाते हैं तब वही प्रारब्ध कहलाते हैं । एवं परम्परा से पुरुषार्थ से ही प्रारब्धकर्म बनते हैं । यहां का पुरुषार्थ किया हुआ यहां की प्रारब्ध भी हो जाता है, जैसेकि स्वच्छ खानपानादि से बलबुद्धि की बृद्धि अन्यथा ह्रास, इस अभिप्राय से स्वामीजी ने कहा है कि पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा है ॥

(२६) यह मन्तव्य स्पष्ट है ॥

(२७) "संस्कार" जो अपगुणों को निकाल देता है और सद्गुणों को प्रविष्ट कर देता है । प्रसिद्ध संस्कार मनुष्य के १६ हैं, श्मशानान्त संस्कार के अनन्तर परलोक गामी जीव के लिये यहां का किया हुआ कोई कर्म उसके सुख दुःख का हेतु नहीं हो सक्ता, इस अभिप्राय से स्वामीजीने कहा है कि दाह के पश्चात् मृतक के लिये कुछ भी नहीं करना चाहिये, इस विषय में हमारे सनातनी भाइयों को बड़ी विप्रतिपत्ति है, वह यह मानते हैं कि यहां के किये हुए श्राद्धादि कर्म मृतक जीव के लिये सुख दुःख के हेतु हो सक्ते हैं । और युक्तियें इस विषय में यह देते हैं कि (१) जैसे इस लोक में दूसरे के कर्मों का फल दूसरे को मिल जाता है इसी प्रकार परलोक में भी मृतक के पीछे किये हुए श्राद्धादि कर्मों का फल मिल सक्ता है ?

(२) दूसरी युक्ति यह है कि जैसे मृतक के नाम पर बनवाए हुए कुए तालावादि कर्मों का यश रूपी फल मृतक को मिलता है एवं श्राद्ध का फल भी मिलता है ?

(३) जैसे मरने के पश्चात् उसकी इष्ट प्राप्ति के लिये प्रार्थना की जाती है और उसका फल उसको मिलता है, इसी प्रकार

यहां के दिये हुए पदार्थ उसको मिल सक्ते हैं ?

(१) प्रथम युक्ति का उत्तर यह है कि इस लोक में भी दूसरे के कर्मों का फल दूसरे को नहीं मिलता किन्तु दूसरे के प्रारब्ध कर्मों में दूसरा निमित्त मात्र हो जाता है । अन्यथा यदि अन्य के कर्मों का फल अन्य को मिल जाय तो जिस समय किसी के सम्बन्धि को कोई दुःख होता है या प्राणान्त होता है उस समय बहुत से इष्ट मित्र ऐसी प्रार्थना करते हैं कि मेरे शुभकर्म इसको लग जायें और मेरी आयु इसको प्राप्त हो जाय पर ऐसा होता नहीं, इस लिये दूसरे के कर्म दूसरे को नहीं लगते ॥

(२) कुए तालावादिकों का यशरूपी फल उसको नहीं मिलता, किन्तु यश भी तभी होता है जब वह अपने हाथ से बनवाजाय, और यदि उसका कोई सम्बन्धि उसके पीछे उसके नाम के लिये बनवा देता है और वह यावदायुष कदर्य्य रहता है तो उससे उसका यश नहीं रहता किन्तु बनवाने वाले का यश होता है । रही नाम की प्रसिद्धि सो परलोक में उसके सुख दुःख का कारण नहीं हो सक्ती ॥

(३) मरने के पीछे जो उसकी इष्ट प्राप्ति के लिये प्रार्थना की जाती है वह जीवित जनों को सुमार्ग दर्शाने के लिये की जाती है । और दूसरी बात यह है कि प्रार्थना का फल नम्रता, आत्म न्यूनता, आदि हैं । अन्य कर्मवत् फल प्राप्ति प्रार्थना का फल नहीं, अन्यथा सब प्रार्थना कर्त्ता सब कार्य्य अपने प्रार्थनाओं से ही सिद्ध कर लिया करें एवंतृतीय तर्क से भी मृतक श्राद्ध मण्डन नहीं होता॥

अब हम यह पूछते हैं कि मृतक के अनन्तर जो श्राद्धादि कर्म किये जाते हैं वह किस प्रकार उसको प्राप्त होते हैं? क्या वह उसकी प्रारब्ध बन जाते हैं, अथवा जिस समय उसके निमित्त भोजनादि दिये जाते हैं तो वह उसी समय उसको जाकर मिल जाते हैं?

प्रारब्ध इस लिये नहीं कह सक्ते कि अपने क्रियमाण कर्मों से भिन्न प्रारब्ध कर्म नहीं होते किन्तु अपने क्रियमाण कर्म ही प्रारब्ध होते हैं, इसको इस सूत्र में वर्णन किया है ॥

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ब्र० सू० २। ३। ४२॥

अर्थ–(कृतप्रयत्न) नाम अपने किये हुए कर्मों की अपेक्षा से ही ईश्वर उसको सुख दुःख भुगवाता है, अन्यथा यदि ईश्वर बिना कर्मों के फल भुगवा देता अथवा अन्य के कर्मों से अन्य को फल भुगवा देता तो विहित और प्रतिषिद्ध कर्म सब निष्फल होते, इस लिये दूसरे के किये हुए कर्म दूसरे की प्रारब्ध नहीं होते ॥

यदि यह कहा जाय कि जिस समय उसको भोजनादि दिये जाते हैं उसी समय उसको जाकर मिल जाते हैं यह सर्वथा असम्भव हैं। और वादी मत में महा अनिष्टापात है क्योंकि जब मनुष्य शरीर की तृप्ति कारक अन्न जल चिउंटी के शरीर धारी जीव को जा मिलेगा तो उसका सर्वस्व नष्ट हो जायगा, और यदि हस्ती के शरीर धारी जीव को मिलेगा तो अकिञ्चितकर होगा क्योंकि उसकी तृप्ति उससे न होगी, इससे यह सिद्ध हुआ कि श्राद्धादि कर्मों का फल मृतक को नहीं मिलता ॥

और बात यह है कि हमारे वादी श्राद्धादि कर्मों में भोक्ता ब्राह्मणों के द्वारा पित्रों को उस अन्न की प्राप्ति मानते हैं, इस लिये

(१) प्रथम प्रश्न यह है कि श्राद्धादि कर्म वेद में किस मंत्र में वर्णन किये गए हैं?

(२) और किस मंत्र में ब्राह्मणों को खिलाकर पक्वान्नों का परलोक में भेजने का प्रकार लिखा गया है?

(३) यदि मृतकों का ही श्राद्ध होता है तोः—

येच जीवा येच मृतां ये जाता ये च यज्ञिया ॥ अथर्व० १८।४।५७॥

इस मंत्र में जीतों का श्राद्ध क्यों विधान किया गया है?

(४) वेद में पिण्ड पितृयज्ञ का कथन है वा श्राद्ध का? यदि पिण्ड पितृयज्ञ का कथन है तो सनातन पथ का अभिमान करने वाले पौराणिक इसको श्राद्ध कर्म क्यों कहते हैं?

(५) यदि वेद में पिण्ड पितृयज्ञ का विधान है तो वेद में पिण्ड पितृयज्ञ का किस मंत्र में वर्णन है?

(६) यदि पिण्ड पितृयज्ञ का वर्णन है तो उस पिण्ड का किसी को भोजन कराके परलोक में भेजना कहां लिखा है?

(७) यदि पितर अपने आपही हविष् के खाने को यज्ञ में चले आते थे तो अब क्यों नहीं आते?

(८) जो प्रेत कर्म में वैदिक मंत्र हैं जब उनका विनियोग चिता कर्म में है फिर उन मंत्रों से आधुनिक श्राद्ध की सिद्धि कैसे की जाती है? यह प्रश्नाष्टक है जिसका उत्तर पौराणिक मण्डल में कोई

नहीं। केवल चिताकर्म के बहुतसे मंत्रों का संचय करके गरुड़ पुराणी श्राद्ध को आडम्बर मात्र से वैदिक बनाया जाता है, और यह मिथ्या विश्वास पर जगद्भञ्जन की जड़ जमाना धर्म से सर्वथा विरुद्ध है, इसलिये हम इस विषय के मंत्रों पर पौराणिक अर्थों की सविस्तर समीक्षा करते हैं ॥

मृतकश्राद्ध मानने वालों के प्रबलप्रमाण काही हम प्रथम खण्डन करते हैं। पौराणिक वर्ग में वह प्रबल प्रमाण यह है कि :—

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते । त्वंतान्वेत्थयदिते जातवेदः स्वधया यज्ञं स्वधितिंजुषन्ताम्   अथर्व० १८।२।३५।

इसके यह अर्थ किये जाते हैं कि जो अग्नि से दग्ध किये गए, और जो अग्नि से नहीं दग्ध किये गए, और जो हवि भक्षण करके स्वर्ग में रहते हैं, हे अग्ने तू उनको जानता है यह हवि तू उनके लिये भक्षण करने को लेजा ॥

पर हम इस अर्थ की समक्षिा करते हुए यह वतलाते हैं कि इससे तो (अग्निदग्धा) कहने से मृतपित्रों के शरीर का ग्रहण होता है तो क्या उन शरीरों के लिये अग्नि से प्रार्थना है? कि अग्नि उनको इस हवि का सेवन कराये, मंत्र के मुख्यार्थ से शरीरों का ग्रहण होता है आत्मा का कदापि नहीं। सूक्ष्मदर्शी सनातन धर्म्मी यहां यह कहेंगे कि केवल लक्षणा से यहां "अग्निदग्धा" कहने से शरीर सम्बन्धि जो आत्मा है उसका ग्रहण हो जाता है जैसे कि "गंगायांघोषः" इस कथन से गंगा पद का शक्यार्थ जो प्रवाह उसके साथ सम्बन्ध

रखने से गंगापद की तीरमें लक्षणा होजाती है, इससे तात्पर्य्य यह निकलता है कि गंगा के तीर पर घोष है, एवं अग्नि से दग्ध जो शरीर उसके साथ सम्बन्ध रखने से आत्मा का ग्रहण हो जाता है। तो अब हम पूछते हैं कि लक्ष्यार्थ से बिना तो आपका भी निर्वाह नहीं होता फिर आप लक्ष्यार्थ लेने से क्यों घबराते हैं ?

सार यह निकला कि मृत पितरों के जीवात्मा का ग्रहण उक्त मंत्र में लक्षणा वृत्ति से लाभ हुआ ॥

लक्षणा से मंत्रार्थ यह बनते हैं कि हे (जातवेदः) अग्ने परमात्मन् जो मृतपितरों के शरीर अग्नि में जलाए गए हैं, और जो अग्नि में नहीं जलाए गए, जो आकाश में स्वयं अपनी कांति से विराजमान हैं, अर्थात् ऐसे आकाशवत् उच्च पर्वतीय देशों में पड़े हैं कि जिनकी कांति नहीं विगड़ी, तुम परमात्मन् सर्वज्ञ होने के कारण सबको जानते हो, इस लिये इस स्वधा सम्बन्धि यह यज्ञीय हविष् उनको सेवन कराओ। भेद इतना है कि पौराणिक अर्थ में "अग्निदग्धा" शव्द में तात्पर्य्याऽनुपपत्ति से पितरों के जीवात्मा में लक्षणा की गई, और हमारे मन्तव्य में (जातवेदः) पद की भौतिकाग्नि में तात्पर्य्याऽनुपत्ति होने से परमात्मा में लक्षणाकी गई, क्योंकि इस मंत्र में यह लिखा हुआ है कि हे जातवेदः तू उनको जानता है और जानना जड़ अग्नि में हो नहीं सक्ता जिससे यह अर्थ लाभ हुआ कि सर्वज्ञ परमात्मा इस अन्त्येष्टि यज्ञ के हविष् को इस्ततः सर्वत्र प्रचार करें ताकि जिन पित्रों के शरीर असंस्कृत रहे हैं उनसे भी संसार को कुछ हानि न हो ॥

हमारे उक्तार्थकी प्रबलतामें यह प्रमाणहै कि इससे आगे मं० ३६

में अन्त्येष्टि यज्ञ का वर्णन है, इससे पाया गया कि इस मंत्र में भी अन्त्येष्टि यज्ञ अर्थात् चिताकर्मका विधान है फिर इससे मृतक श्राद्ध की सिद्धि कैसे ?

इससे आगे मंत्र ३६ यह है :—

शं तपमाति तपो अग्ने मा तन्वं तपः । वनेषु शुष्मो अस्तु ते पृथिव्यामस्तुयद्धरः ॥ ३६ ॥

अर्थ–हे भौतिकाग्ने तू इस प्रेत शरीर को (शंतप) नाम शोभन तपा और (मातितपः) अतिमत तपा अर्थात् ऐसा मत तपा जिससे हमारे शरीरों तक भी उसका दाह पहुंचे, (मातन्वंतपः) हमारे शरीरों को मत तपा तुम्हारा शुष्क करने वाला तेज बनों में हो और हरण करने वाला जो तुम्हारा तेज है वह पृथ्वी में रहे। इस मंत्र में उपचार से भौतिकाग्नि को ऐसा कथन किया गया है, शिक्षा इससे यह लाभ होती है कि मृतक की चिता ऐसी न तपाई जाय जिससे अन्त्येष्टि यज्ञ करने वाले लोगों को भी दाह प्रतीत हो, अर्थात् शनैः २ तपाई जाय। तत्व यह निकला कि यह चिता का प्रकरण है इस में डाले हुए घृतादि पदार्थों को कोई नहीं कह सक्ता कि परलोक में मृत पितरों की भूख मिटाने के लिये यह डाले जाते हैं किन्तु मृतक प्राणियों के शरीर संस्कार के लिये और जीवितों के दुर्गन्धादि निवृत्ति के लिये ऐसा कथन किया गया है, नकि किसी फल प्राप्ति के लिये। इसी अभिप्राय सेः—

येच जीवा येच मृता ये जाता येच यज्ञियाः। तेभ्यो घृतस्यकुल्यैतु मधुधाराव्युंदती ॥ अ० १८।४।५७

यह मंत्र लिखा है, इसके अर्थ यह हैं कि (येचजीवा) जो जीते हैं, (येचमृता) जो मर गए हैं, (येजाता) जो उत्पन्न हुए हैं, (येच यज्ञियाः) और जो उत्पन्न होने वाले हैं (तेभ्यः) इन सब पूर्वोक्त प्राणियों के लिये (मधुधाराव्युन्दति) नाम मीठे २ प्रवाहों को सिञ्चन करती हुई (घृतस्य) घी की (कुल्या) नाम धार (एतु) नाम प्राप्त हो। इस मंत्रमें स्पष्ट करदिया गया कि यह चिता का हवन जीवित मृतक सबके लिये कल्याणकारी है। जीतों के लिये दुर्गंध निवृत्ति द्वारा कल्याणकारी है, मृतक शरीरों के लिये उनके संस्कार द्वारा शुभकारी है। इस मंत्र में मृतक श्राद्ध वादियों का मत सर्वथा शिथिल होजाता है क्योंकि इसमें जीवितों का भी विधान है। इस मंत्र के अर्थ पं० ज्वालाप्रसादमिश्र यहांतक गोलमोल करते हैं कि कुछ पताही नहीं देते, उनके अर्थ यह हैं कि (जो जीवित हैं जो कोई मृतक होगए जो उत्पन्न हुए जो यज्ञ के कराने वाले हैं उनके वास्ते घृत की कुल्या मधुधारा प्राप्त हो *) कुछ नहीं खोला, कि वह पितर हैं अथवा यज्ञके कराने वाले ऋत्वजादि हैं, यहां ऐसी मौन वृत्ति धारण की है कि पिण्ड वा श्राद्ध का नाम ही नहीं लिया, और मंत्रों में यहां तक दम मारते हैं कि कबरों में गाढ़े हुओं को भी भोजनादि भक्षण कराने को तैय्यार हैं जैसेकिः—

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा येचोद्धिताः ॥
सर्वांस्तानग्न आवह पितॄन्हविषे अत्तवे ॥
अथर्व० कां० १८ । २ । ३४

इस मंत्र के अर्थ यह करते हैं कि जो पितर गाढ़े गए, जो पड़े

---

* दयानन्द ति० भा० पृ० ११४ ।

रहें, जो अग्नि से जलाए गए, जो उद्धित फेंके गए हैं, हे अग्ने! उन सबको हवि भक्षण करने को सम्यग् प्रकार से लेजा।

यहां पृष्टव्य यह है कि निखातादि पदों से तो शरीर का ग्रहण है, वह तो आपके कथनानुसार दबाया या जलाया गया, फिर विचारा अग्नि आपके हवि को किसके पास लेजावेगा? और मृतक शरीर कैसे भक्षण करेगा? यदि लक्ष्यार्थ लेनेसे शरीर सम्बन्धि जीवात्मा के अर्थ लेते हैं तो सभी मंत्रके लक्ष्यार्थ क्यों नहीं लेते जिससे तात्पर्य्य उपपत्ति होसके। वह इस प्रकार है कि हे अग्ने परमात्मन् (सर्वांस्तान्) उनसब (पितृ) पितरों को (हविषे अत्तवे) नाम हवि भक्षण करने के लिये (आवह) नाम प्राप्त कर।

जो (ये निखाता) युद्धादि समय में भूमि में जिनका संस्कार किया गया है (परोप्ता) नाम दूर देश में जिन शरीरों को काष्ठवत् त्याग दिया गया है, (येदग्धा) जो शरीर अग्नि में दग्ध किये गए हैं, और जो (उद्धिताः) नाम इधर उधर फेंक दिये गए, उन सबको इस अन्त्येष्टि यज्ञ की सुगन्धि का प्रभाव प्राप्त करा॥

इससे शिक्षा यह लाभ होती है कि चिता का हवन न केवल चितास्थ शरीर की शुद्धि के लिये है किन्तु सर्व दुर्गन्धित द्रव्यों की शुद्धि के लिये है। यहां भी "येऽअग्निदग्धा" इस मंत्र के "जातवेदः" के समान अग्निपद परमात्मा का बोधक है, आशय यह है कि हे परमात्मन् तुम इस चितास्थ हवन की सुगन्धि से सब पदार्थों को शुद्ध करो। अत्ता-शब्द यहां उपचार से कहा गया है क्योंकि मृत शरीरों में भक्षण करने का सामर्थ्य नहीं होता॥

इस मंत्र को भी दृढ़ता से पौराणिक लोग मृतक श्राद्ध के

मण्डन में दिया करते हैं:—

यास्तेधाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः तास्ते सन्तु विभ्वीः प्रभ्वीस्तास्तेयमो राजानुमन्यताम् ॥ अथर्व० १८। ३। ६९ ॥

अर्थ—(तिलमिश्राः) तिलों से मिश्रित (स्वधावतीः) नाम स्वधाशब्द संयुक्त जो धान, मैं तुम्हारी चिता में छोड़ता हूं वह बहुत सुगंधिप्रद हों और (यमोराजा) नाम दीप्तिवाला वायु उनकी सुगंधि को इतस्ततः फैलावे। सायणाचार्य्य ने यहां यम के अर्थ ईश्वर के किये हैंकि "राजाराजमानईश्वरोयमः ते तव ताधानाऽनुमन्यताम् भोक्तुमनुजानातु" अर्थ—दीप्तिवाला ईश्वर यम तुम्हारे लिये उन धानों के भोगने की आज्ञा दे, हमने यहां सायण के अर्थ से यह सार ग्रहण करना है कि सायण से विरुद्ध सनातनी यहां यमके अर्थ प्रेत देशका स्वामी व्यक्ति विशेष कैसे कर लेते हैं ॥

उक्त तिल और धानों का यहां चिता में डालने का विधान है, इस बात का प्रमाण यह इसी काण्ड का मं० ७१ है:—

आरभस्व जातवेदस्तेज स्वद्धरो अस्तुते । शरीरमस्य सं दहाथैनंधेहि सुकृतामुलोके ॥ ७१ ॥

अर्थ—हे अग्ने (आरभस्व) नाम इस मृतक को दग्ध करने का प्रारम्भ कर। सायण इसके यह अर्थ करते हैं कि "मृतंदग्धुमुपक्रमस्व" तुम्हारा हरण शील तेज हो, "शरीरमस्य सन्दह" इसके शरीर को अच्छे प्रकार दाह करो, और इसके

जीवात्मा को पवित्र स्थानों को प्राप्त कराओ। इस मंत्र में शरीर के दाह का कथन किया जाना इस बात को सिद्ध करता है कि यह श्मशान कर्म के मंत्र हैं यहां श्राद्ध की क्या कथा?

इस मंत्र को पं० ज्वालाप्रसादमिश्र ने ऐसे ही लिखकर छोड़ दिया है अर्थ कुछ नहीं किये, करते भी क्या, उक्त श्मशान के मंत्र की शरण से श्राद्ध कैसे सिद्ध करते। इस लिये श्राद्ध की सिद्धि के लिये एक और मंत्र पर जा पड़े हैं और वह यह है:—

ये अग्रवः शशमानाः परेयुर्हित्वाद्वेषांस्यनपत्यवन्तः ते द्यामुदित्याविदन्तलोकं नाकस्यपृष्ठे अधिदीध्यानाः॥ अथर्व० १८। २। ४७॥

इसके अर्थों में पं० ज्वालाप्रसादमिश्र यह लिखते हैं कि "जो निस्सन्तान लोग स्वर्गादि लोक में प्राप्त हैं उनको हवि देते हैं। यहां पूर्ण रूप से विदित है कि मृतक श्राद्ध होता है"॥

उत्तर—यहां मंत्र में हवि देने का कहीं नाम तक नहीं, फिर आपकी पूर्णरूप से मृतक श्राद्ध की सिद्धि कैसे? मंत्र के सत्यार्थ यह हैं (ये) जो (अग्रवः) अग्रगामी (शशमानाः) प्रशंसा योग्य (परेयुः) नाम परलोक को प्राप्त होते हैं (द्वेषांसिहित्वा) नाम द्वेषों को छोड़कर, फिर वह कैसे पितर हैं (अनपत्यवन्तः) नाम सांसारिक संतति रहित है, वह पितर (द्यान) नाम अंतरिक्ष को (उदृगत्य) उल्लङ्घन करके स्वर्गलोक में अर्थात् सुखलोक में (अधिदीध्यानाः) नाम अधिक दीप्तिवाले होकर विराजमान होते हैं॥

आशय इसका यह है कि जो राग द्वेष से रहित विद्वान् सांसा-

रिक सन्तति को छोड़कर केवल विद्यारूपी सन्तति संसार में उत्पन्न कर जाते हैं, वह दीप्तिवाले होकर स्वर्गलोक में विराजते हैं। इस मंत्र से यह भी पाया गया कि पुत्र पौत्रादि सन्तति उत्पन्न करने वालों का ही नाम पितर नहीं किन्तु निस्सन्तानों का नाम भी पितर है। अस्तु यह प्रकरणान्तर है, प्रकृत यह है कि यहां मृतपितरों के निमित्त स्वर्ग में कोई वस्तु पहुंचाने का नाम तक नहीं, फिर उन्होंने मृतक श्राद्ध कैसे निकाल लिया। उक्त प्रकार से मृतक श्राद्ध वादियों की समीक्षा करने से ग्रंथ बहुत बढ़ता है इस लिये जिन २ श्राद्ध विषयक मंत्रों के उन्होंने अर्थाभास किये हैं उन सबके सत्यार्थ यहां किये देते हैं॥

येतेपूर्वेपरागता अपरे पितरश्चये। तेभ्योघृतस्य कुल्यैतु शतधाराव्युंदती॥ अथर्व० १८। ३। ७२।

अर्थ—परमेश्वर इस मंत्र में यह उपदेश करते हैं कि जो तुम्हारे पितर विद्वान् तथा जनकादि मृत होते हैं उनका संस्कार इस प्रकार किया करो॥

(ये) जो (ते) तेरे (पूर्वे) पूर्वले (पितरः) रक्षकादि (च) और (अपरे) अन्य बन्धु आदि (परागता) नाम परलोक वास कर गए हों, उनके अन्त्येष्टि संस्कार के लिये (व्युन्दती) नाम गिरती हुई घृत की शतधारा नदी के समान चिता में डालो ताकि उसमें दुर्गन्धि आदि कुछ न रहे॥

ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये तेषांल्लोकः स्वधा नमो यज्ञोदेवेषु कल्पताम्॥ यजु० १९।४५

अर्थ-(ये) जो (समानाः) नाम समान गुणों वाले हैं (समनसः) समान वृत्तियों वाले हैं अर्थात् एक ही ईश्वरीय धर्म में जिनकी वृत्तियें हैं, ऐसे (पितरः) विज्ञानी लोग, न्यायकारी राजा के राज्य में होते हैं, क्योंकि उनका (लोकः) नाम ज्ञान अमृत रूप होता है और सत्कार ही उनका अन्न होता है। हे परमात्मन् ऐसा (यज्ञ) नाम समान वृत्तियों वाला यज्ञ (देवेषु) नाम उक्त देवताओं में (कल्पताम्) नाम प्रचार करें। इस मंत्र में ईश्वर से ज्ञान यज्ञ की प्रार्थना है॥

ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः।
तेषाꣳश्रीर्मयि कल्पतामस्मिँल्लोके शतꣳसमाः॥
यजु० १९। ४६।

अर्थ-(ये) जो (समानाः) समान गुणों वाले हैं, (समनसः) समान वृत्तियों वाले हैं, फिर कैसे हैं (जीवेषुमामकाः) नाम और जीवों में ममत्व रखने वाले हैं अर्थात् परोपकारार्थ काम करके ममता उत्पन्न करने वाले हैं (तेषां) नाम ऐसे लोगों की जो (श्रीः) शोभा है (मयि) नाम मेरे में (कल्पताम्) धारण करावें, इस भाव को लेकर इस लोक में मैं सौ वर्ष तक जीऊं, इस मंत्र में ईश्वर से कर्म यज्ञ की प्रार्थना है। भाव यह है कि जो लोग निष्काम कर्म करते हैं उनके सब भूत आत्मवत् हो जाते हैं। अब उक्त ज्ञान यज्ञ और कर्म यज्ञ इन दोनों मार्गों को अगले मंत्र में वर्णन करते हैं॥

द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।

ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेतियदन्तरापितरम्मातरञ्च ॥ ४७ ॥

अर्थ-(द्वेसृति) नाम दो मार्ग (मर्त्यानां) मनुष्यों के सुने गए हैं (पितॄणाम्) एक पितरों का अर्थात् कर्मी लोगों का दूसरा (देवानाम्) ज्ञानी लोगों का (अश्रृणवम्) नाम मैं सुनता हूं, उन दोनों मार्गों से (इदं) नाम ये सम्पूर्ण जगत् (एजत्) नाम चेष्टा करता हुआ (समेति) नाम गति करता है, (यत्) जो जगत् (अन्तरापितरम्मातरञ्च) नाम और पिता माताओं को प्राप्त होता है । इस मंत्र में देवयान और पितृयाण मार्ग स्पष्ट रीति से कथन कर दिये हैं इन्हीं का नाम ज्ञान मार्ग और कर्म मार्ग है और इसी को गीता में शुक्ल कृष्णगति के नाम से कहा गया हैः—

शुक्लकृष्णेगतीह्येतेजगतः शाश्वतेमते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽवर्त्तते पुनः ॥
नैतेसृतीपार्थजानन्योगीमुह्यतिकश्चन ।
तस्मात्सर्वेषुकालेषुयोगयुक्तोभवाऽर्जुन ॥
गीता० ८ । २६ । २७ ॥

अर्थ-(शुक्लकृष्णे) नाम शुक्ल और कृष्ण यह दोनों गतियें जगत् की निरन्तर होती है, (एकया) नाम एक से (अनावृत्ति) नाम ब्रह्म भाव को प्राप्त हो जाता है अर्थात् मोक्ष मार्ग में अपहत पाप्मादि ब्रह्म के भाव जीव को प्राप्त हो जाते हैं उस समय उसको (आवृत्ति) नाम ब्रह्म ध्यान नहीं करना पड़ता, और दूसरे कर्म मार्ग में ब्रह्म

ध्यानादि आवृत्ति करनी पड़ती है, इन दो मार्गों को जानता हुआ योगी हे अर्जुन! कभी मोह को प्राप्त नहीं होता, इस लिये सब कालों में तुम ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग का आश्रय लो ॥

यहां पौराणिक लोग यह प्रश्न करेंगे कि शुक्ल मार्ग में अग्नि ज्योति कथन की गई है, और शुक्ल दिन कथन किया गया है, और दूसरे मार्ग में धूम रात्रि कथन की गई है और छ मास का दक्षणायन कथन किया गया है येतो कोई देश विशेष स्वर्गलोक के मार्ग प्रतीत होते हैं फिर इनको ज्ञान और कर्ममार्ग कैसे कह सक्ते हैं? इसका उत्तर यह है कि रूपक बांधकर यहां धूम और अग्नि का मार्ग कथन किया गया है वास्तव में मार्ग विधान में तात्पर्य्य नहीं, इसी अभिप्राय से स्वामीशङ्कराचार्य्यने अपने भाष्य में लिखा है (शुक्लकृष्णे) "ज्ञानप्रकाशकत्वात्शुक्लातदभावात्कृष्णा" अर्थ—देवयान की ज्ञान प्रकाश के अभिप्राय से शुक्लागति कही गई और पितृयाण की ज्ञान के अभाव होने के कारण कृष्णा गति कही गई, यह उक्त दोनों मार्ग पूर्व मंत्र में वर्णन किये गए हैं। इसमें श्राद्ध की कोई चर्चा नहीं ॥

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः। असुंयईयुरवृकाऋतज्ञास्तेनोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ ऋ० १०।१५।१।

अर्थ—(सोम्यासः पितरः) सोम गुण सम्पन्न पितर उत्तम मध्यम और छोटी अवस्था वाले (उदीरताम्) नाम हमारी उन्नति करें, और जो सर्व भूतों के अद्रेष्टा होने से समता रूपी जीवन को प्राप्त

हैं (ऋतज्ञाः) नाम तत्व ज्ञानी हैं ऐसे पितर यज्ञों में हमारी रक्षा करें। अर्थात् तत्व ज्ञानी विद्वान् यज्ञ कर्मों में आकर हमारी रक्षा करें। इस मंत्र में (अवन्तु पितरो हवेषु) इतने मात्र से ही मृतक श्राद्ध वादी श्राद्ध निकालते हैं जिसका आशय स्पष्ट यह है कि यज्ञों में आकर विज्ञानी लोग हमारी रक्षा करें॥

येनः पूर्वेपितरःसोम्यासोऽनूहिरेसोमपीथंवसिष्ठाः तेभिर्य्यमः संꣳरराणोहवीꣳष्युशन्नुशद्भिः प्रति काममत्तु॥ यजु० १९।५१।

अर्थ—जो शान्त्यादि गुण सम्पन्न (येनः पूर्वे पितरः) नाम हमारी सर्व प्रकार से रक्षा करने वाले हैं, (वसिष्ठाः) नाम सर्व गुण सम्पन्न हैं (सोमपीथंऽनूहिरे) नाम सोमपान को प्राप्त हैं ऐसे पितरों के साथ हमारी सन्तान प्रत्येक शुभ कामनाओं को भोग करे। आशय यह है कि सर्वगुण सम्पन्न विज्ञानी पितरों की सेवा में रहकर हमारी सन्तान मनुष्य जन्म के धर्म अर्थ काम मोक्षरूपी फल चतुष्टय को भोगे।

मृतक श्राद्ध वादी इसके यह अर्थ करते हैं कि यजमान मृत पितरों के साथ यथेष्ठ फल को भोगे, अब यह पता नहीं दिया मरकर भोगे, या जीता भोगे? पर यजमान से यह बात पाई जाती है कि जीता ही भोगे, पर यह नहीं बतलाया कि मृत पितरों के साथ उसका सम्बन्ध किस प्रकार होता है॥

त्वयाहिनः पितरः सोमपूर्वेकर्म्माणिचक्रुः पवमान धीराः। वन्वन्नवातः परिधीरपोर्णुद्द्वीरेभिरश्वै र्म्मघवाभवानः॥ यजु० १९।५३।

अर्थ-हे विद्वन् (त्वया) तुम्हारे साथ (नः) हमारे (पितरः) अध्यापका (सोमपूर्वे) ऐश्वर्य्य वाले प्राचीन वृद्ध (कर्माणि) यज्ञादि कर्माणि (चक्रुः) करते हैं, यहां वर्त्तमान काल में लिट का प्रयोग है, फिर तुम कैसे हो (पवमानः) नाम पवित्र करने वाले हो (धीराः) धीर हो (वन्वन्) धर्म की सेवा करने वाले हो, (अवातः) हिंसा रहित हो (परिधीन्) नाम सर्व फल प्रद मार्गों को (अपोर्णुहि) नाम आच्छादनकर (वीरेभिरश्वैः) बलिष्ठ घोड़ों से हमारे मध्य में धन युक्त हो ॥

बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वागिमावोहव्याचकृमाजुषध्वम्। तऽआगताऽवसाशन्तमेनाथानःशंयोररपोदधात ॥ यजु० १९। ५५।

अर्थ-हे (बर्हिषदः) श्रेष्ठ सभा में बैठने वाले पितरो (ऊती) नाम रक्षणादि क्रिया से (अर्वाक्) नाम हमारे मध्य में (इमा) नाम इन हव्यादि भोजन युक्त पदार्थों को (वः) तुमारे लिये (चकृम) संस्कार करते हैं उनका आप लोग (जुषध्वम्) सेवन करें, (शन्तमेन) नाम अत्यन्त कल्याण कारक (अवसा) रक्षणादि कर्म के साथ (आगत) आवें (अथ) इसके अनन्तर (नः) हमारे लिये (शंयोः) नाम सुख तथा (अरपः) नाम सत्याचरण को (दधात) धारण करें, और दुख को सदा हमसे पृथक् रखें ॥

यहां वादी ने "बर्हिषदः" शब्द से ही पौराणिक श्राद्ध वाले पितर सिद्ध कर लिये, यदि "बर्हिषदः" के अर्थ वादी स्वीकृत कुशासन के ही कर लिये जावें तब बतलाओ क्या कुशासन पर

बैठने वाले मृत पितर ही होते हैं ? यदि ऐसा है तो गीता० ६।११ में योगी के लिये कुशासन क्यों लिखा है ॥

आयन्तुनः पितर स्सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्दैवयानैः । अस्मिन्यज्ञेस्वधयामदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ यजु० १९ । ५८ ।

अर्थ-(नः) हमारे पितर (सोम्यासः) शमदमादि गुण विशिष्ट (अग्निष्वात्ताः) नाम पञ्चाग्नि विद्यादिकों में निपुण (पथिभिर्दैवयानैः) नाम ज्ञान मार्गों से अर्थात् ज्ञान देने के अभिप्राय से (आयन्तु) आवें, और हमारे इस यज्ञ में (स्वधया) अन्नादि से (मदन्तः) नाम आनन्द को प्राप्त हुए (अस्मान्) हमको (अधिब्रुवन्तु) नाम उपदेश करें और (अवन्तु) नाम हमारी रक्षा करें ॥

येअग्निष्वात्ता येअनग्निष्वात्तामध्येदिवः स्वधया मादयन्ते । तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशंतन्वंकल्पयाति ॥ यजु० १९ । ६० ।

अर्थ-(ये अग्निष्वात्ता) नाम जिन्होंने पञ्चाग्नि विद्या को ग्रहण किया है और (ये अनग्निष्वात्ता) नाम ज्ञानी हैं (दिवः) नाम ज्ञानादि प्रकाश के मध्य में (स्वधया) सुन्दर तृप्ति से (मादयन्ते) नाम आनन्द को प्राप्त होते हैं (तेभ्यः) उन पितरों के लिये (स्वराट्) नाम स्वयं प्रकाशमान परमात्मा (असुनीतिमेताम्) नाम इस प्राणधारी (तन्वन्) नाम शरीर को (यथावशम्) कामना के अनुकूल (कल्पयाति) समर्थन करे ॥

मृतक श्राद्ध वादी के मत में अग्नि में जले हुए पितर और ना जले हुए पितर उक्त दो शब्द ही मृतक श्राद्ध के साधक हैं। इनका समाधान "अग्निदग्धाअनग्निदग्धा" इत्यादि मंत्रों में कर आए हैं उन युक्तियों का यहां भी उपयोग है॥

आच्याजानुदक्षिणतोनिषद्येमंयज्ञमभिगृणीतविश्वे। माहिंᳮसिष्टपितरः केनचिन्नोयद्वआगः पुरुषता कराम॥ यजु० १९। ६२।

अर्थ–(विश्वे) नाम हे सर्व पितरो तुम (केन, चित्) नाम किसी हेतु से (नः) हमारी जो (पुरुषता) नाम पुरुषार्थता है उसको (मा, हिंसिष्ट) मत नष्ट करो, जिससे हम लोग सुख को (कराम) प्राप्त करें (यत्) जो (वः) तुमारा (आगः) अपराध हमने किया है उसको हम छोड़े, तुम लोग (इमम्) इस (यज्ञम्) सत्कार रूप व्यवहार को (अभि, गृणीत) हमारे सन्मुख प्रशंसित करो, हम (जानु) नाम जानु, अवयव को (आच्य) नीचे टेककर (दक्षिणतः) तुम्हारे दक्षिण पार्श्व में (निषद्य) बैठके तुम्हारा निरन्तर सत्कार करें॥

इस मंत्र में जानु टेककर बैठने और दक्षिण मुख से ही वादी मृतक श्राद्ध निकालते हैं॥

आसीनासोअरुणीनामुपस्थेरयिंधत्तदाशुषेमर्त्याय। पुत्रेभ्यः पितरस्तस्यवस्वः प्रयच्छततइहोर्जंदधात॥ यजु० १९। ६३॥

अर्थ–हे (पितरः) ज्ञानी लोगो (दाशुषे) दाता यजमान के लिये

(रयिम्) नाम धन को (धत्त) धारण करो, तुम कैसे हो, जोकि लाल रंग के उर्ण के आसनों के ऊपर (आसीना) बैठे हुए हो ॥

और हे पितरो (पुत्रेभ्यः) नाम यजमान रूप जो तुम्हारे पुत्र हैं उनको अभीष्ट धन दो, और तुम हमारे इस यज्ञ में (ऊर्जम्) जो पराक्रम है उसको स्थापन करो ॥

इस मंत्र में मृत पितरों का सूचक कोई शब्द नहीं प्रत्युत लाल रंग के आसनों पर बैठना, उनसे यज्ञ में पराक्रम और धनादिकों की प्रार्थना करना इस बात को सिद्ध करता है कि इस मंत्र में जीते पितरों का ही वर्णन है ॥

पुनन्तुमापितरः सोम्यासः पुनन्तुमापितामहाः । पुनन्तुप्रपितामहाः पवित्रेणशतायुषा । पुनन्तुमा पितामहाः पुनन्तुप्रपितामहाः पवित्रेणशतायुषा विश्वामायुर्व्यश्नवै ॥ यजु० १९ । ३७ ।

अर्थ-(सोम्यासः) नाम सौम्यगुण सम्पन्न (पितरः) पितर (मामपुनन्तु) मुझको पवित्र करें, और पितामह मुझको पवित्र करें, प्रपितामह मुझको पवित्र करें, पवित्र जो सौ वर्ष की आयु है उसके साथ पितामहादि पवित्र करें अर्थात् उनके अनुकरण से मैं भी सौ वर्ष की आयु को प्राप्त होऊं । इस प्रकार पूर्वोक्त पितरों से पवित्र हुआ (विश्वम्) नाम सर्व आयु को मैं (व्यश्नवै) प्राप्नुयां प्राप्त होऊं । उक्त प्रार्थना भी जीवित पितरों से ही की गई है, और पितामह प्रपितामहादि के नाम लेने से यह भी सिद्ध कर-दिया कि यहां तक जीते रहना सम्भव हो सक्ता है, यदि मृतकों

का अभिप्राय होता तो पितामह प्रपितामह तक ही अवधि क्यों रखी गई ?

आधत्तपितरोगर्भङ्कुमारम्पुष्करस्रजम् ।
यथेहपुरुषोसत् ॥ यजु० २ । ३३

अर्थ—(पितरः)नाम इस कुलके वृद्ध लोग ऐसा गर्भाधान संस्कार करें कि जिससे सुन्दर कुमार उत्पन्न हों। इस मंत्र का मृतक श्राद्ध से क्या सम्बन्ध ?

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्याणैर्येना ते पूर्वे पितरः परेताः ।
उभा राजानौ स्वधया मदन्तौ यमं पश्यासि वरुणं च देवम् ॥ अथर्व० १८ । १ । ५४

अर्थ—इस मंत्र में उस समय का वर्णन है जिस समय शकट पर डालकर मृतक को शमशान भूमि में लेजाया जाता है । हे प्रेत (प्रेहि प्रेहि) तू जा जा (पूर्याणैः पथिभिः) जिस मार्ग से प्रेत लोग परलोक को जाते हैं उस मार्ग का नाम पूर्याण है, और जिस से तुम्हारे पूर्व पितर परलोक अर्थात् पुनर्जन्म को प्राप्त हुए हैं, वहां जाकर तुम यम नाम आकाशस्थ वायु को वरुण नाम जल के दिव्य स्वरूप को, इन दोनों देवों को सुधारूप आहुति भक्षण करते हुए देखोगे। इस मंत्र में मृत शरीर में द्रष्टि आदि भावों का आरोप किया गया है, आशय यह वर्णन किया गया है कि मृत शरीर का जब सुगन्धित द्रव्यों के साथ दाह किया जाता है तो वह वाष्परूप होकर नभोमण्डल को प्राप्त हो जाता है वहां की जल वायु की चिता पर दी हुई आहुति शुद्ध कर देती है,

इसलिये मृतक के लेजाने समय में उपचार से यह कहा जाता है कि तुम्हें ऐसे मार्ग से भेजा जायगा जिसमें कोई दुर्गति की सम्भावना नहीं, अर्थात् जिस प्रकार असंस्कृत देहादि सड़ गल जाते हैं वह गति तुम्हारी नहीं होगी ॥

इसमें मृतक श्राद्ध की क्या कथा। वादी ने यहां यम शब्द और वरुण शब्द देखकर ही मृतक श्राद्ध निकाला है, पर यह भी नहीं बिचारा कि विचारे सनातनी सायण तो यहां गड्डी पर लादकर श्मशान में लेजाने के लिये मृतक पितर को बुलाते हैं फिर यहां श्राद्ध की सिद्धि कैसे ?

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्वन्तरिक्षम् । य आक्षियन्ति पृथिवीमुतद्यां तेभ्यः पितृभ्योनमसाविधेम ॥ अथर्व० १८ । २ । ४९

अर्थ–(येनः पितुः पितरो) हमारे पितामह और जो विज्ञानी पितर (आविविशुरन्तरिक्षम्) आकाश को प्राप्त हुए हैं अर्थात् पदार्थ विद्या द्वारा आकाश मार्ग के ज्ञाता हैं और जो आक्षियन्तिपृथिवी नाम पृथिवी पर निवास करते हैं और जो (द्यां) स्वर्ग लोक में स्थिर हैं ऐसे पितरों को मैं नमस्कार करता हूं ॥

इस मंत्र में मृतक श्राद्धवादी यह कहते हैं कि आकाश को प्राप्त हुए पितर जो इस मंत्र में कथन किये गए हैं वह जीवित कैसे हो सक्ते हैं ? उत्तर–इस मंत्र में तो यह भी कथन किया गया है कि जो इस पृथिवी में रहते हैं, अब यह बतलाओ कि क्या तुम्हारे पितर पितृलोक छोड़कर इस पृथिवी में भी रहते हैं, यहां तो पृथिवी

लोक में पितरों का रहना वर्णन करके वेदभगवान ने मृतकश्राद्ध वादियों का मत शिथिल कर दिया, और जीवित श्राद्ध वादियों के मत में तो पदार्थ विद्या वेत्ता पितरों की अन्तरिक्ष में भी गति हो सक्ती है इस लिये कोई दोष नहीं ॥

योममारप्रथमोमर्त्यानांयः प्रेयाप्रथमोलोकमेतम्
वैवस्वतंसंगमनंजनानांयमं राजानंहविषासपर्यत
अथर्व० १८। ३। १३।

अर्थ-(यो ममार प्रथमोमर्त्यानां) जो लोगों में से प्रथम मरता है (यः प्रेया प्रथमो लोकमेतम) और जो पहले इस लोक को प्राप्त होता है वैवस्वतं नाम विवस्वान् सूर्य्य से उत्पन्न हुआ जो यह यम वायु है और संगमनं नाम जिसके द्वारा जीव लिङ्ग शरीर सहित पुनर्जन्म को गमन करता है, हे मनुष्यो तुम उस (यमंराजानं) नियमन करने वाली दीप्तिमान वायु को (हविषा) हवन से (सपर्यत) पूजयत पूजा करो। आशय इस मंत्र का यह है कि जो पुरुष प्रथम मृत हो जाता है उसके जीवित सम्बन्धि उसको सुगंधित पदार्थों द्वारा दाह करें ॥

सायण इसके यह अर्थ करता है कि सूर्य्य का पुत्र यम प्रथम यहां से मरकर यमलोक में गया है उसकी तुम पूजा करो, मृतक श्राद्ध वादियों के मत में सूर्य्य का पुत्र यम मरकर जबतक वहां नहीं पहुंचा था तबतक यम लोक का राज्य किसके हाथ में था? मृतक श्राद्धवादियों की ऐसी अनन्त कच्ची बातें हैं जिनका आदि अंत नहीं मिलता। पं० ज्वालाप्रसादमिश्र इसमें यह गीत गाते हैं कि " जो मनुष्यों को मारके प्रथम इस लोक से लेजाते हैं

उन मनुष्यों के प्राण लेनेवाले यमराजा का हविद्वारा हम पूजन करते हैं"। दया० ति० भा० पृ० ११९ इसकी भाषा ऐसी अलौकिक है कि अतिप्रयास करने पर भी अर्थ नहीं मिलता, प्रथम शब्द यहां सर्वथा निष्फल है। मृतक श्राद्धवादियों के मत में जब यम किसी को मारकर लेजाता है तो क्या उससे पहले यम ने कभी किसी को नहीं मारा था जो उसको प्रथम कहा जाय? और यह अर्थ भी सायण से सर्वथा विरुद्ध हैं॥

यौतेश्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौपथि रक्षी नृचक्षसौ। ताभ्यामेनंपरिदेहि राजन्त्स्वस्ति चास्मा अनमीवं च धेहि॥ ऋ० १०।१४।११

अर्थ–(यम) हे अन्तर्यामिन् (यौ) जो (ते) तुम्हारे (रक्षितारौ) रक्षा करनेवाले (पथिरक्षी) सांसारिक पथ में रक्षा करनेवाले हैं (नृचक्षसौ) मनुष्यों को मार्ग दिखलानेवाले (श्वानौ) कर्म योग और ज्ञान योग उन दोनों से इस पुरुष को परिदेहि नाम रक्षित कीजिये (च) और (अस्मै) इसके लिये (अनमीवं) आरोग्यतादि सुख और (स्वस्ति) कल्याण (धेहि) दीजिये। यह इस मंत्र के मुख्यार्थ थे जिनको छोड़कर पं० ज्वालाप्रसादमिश्र ने यमराज के दो कुत्तों के अर्थ किये हैं, और कहा है कि हे यमराज जो तुम्हारे दोनों कुत्ते हैं उनको इस प्रेत की रक्षा करने को भेजो। क्या अद्भुत प्रार्थना है, अगर कुत्तों से ही मृतक की रक्षा होती है तो श्राद्धकर्म में कुत्तों का दान अवश्य होना चाहिये, ताकि पौराणिक पितृलोकगामी जीव के साथ रास्ते में कोई रगड़ा झगड़ा न करे॥

यमग्ने कव्यवाहनत्वंचिन्मन्यसे रयिम् ।
तन्नोगीर्भिः श्रवाय्यन्देव त्रापन यायुजम् ॥
यजु० १६ । ६४

अर्थ—हे अग्निवत् प्रकाशमान विद्वन् और हे कव्यवाहन नाम रक्षक लोगों को सुन्दर २ वस्तु देने वाले विद्वन् तुम हमारे लिये ऐश्वर्य्य सम्पादन करो ।

योऽअग्निः कव्यवाहनः पितृन्यक्ष दृतावृधः ।
पेदुहव्या च निवोचति देवेभ्यश्च पितृभ्य आ ॥
यजु० १६ । ६५

हे (कव्यवाहन) विद्वन् तुम पितॄन् नाम अपने रक्षक जनकादिकों की पूजाकरो, जो रक्षक (ऋतावृधः) नाम वेद विज्ञान से अपनी सन्ततियों को बढ़ाते हैं ॥

त्वमग्न ईडितःकव्यवाहनावाड्ढव्यानि सुरभीणिकृत्वी । प्रादाः पितृभ्यः स्वधायाते अक्षन्नद्धि त्वन्देव प्रयताहवीꣳषि ॥ ६६

अर्थ—हे (कव्यवाहन) विद्वन् तुम सुगंधियुक्त अन्नादिकों को प्रथम अपने पिता पितामह आदिकों को भोजन कराके फिर स्वयं भोजन करो ॥

येचेहपितरोयेचनेहयांश्चविद्मयाꣳउचनप्रविद्म । त्वं वेत्थ यतिते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञꣳसुकृतञ्जुषस्व ॥ ६७

अर्थ—हे जातवेदः विद्वन्, यहां जातवेदः शब्द इस अभिप्राय से विद्वान् में वर्तता है कि—जातं वेदो यस्मिन् स जातवेदः अथार्त् उत्पन्न हुआ हो ज्ञान जिसको उसका नाम जातवेद है। हे जातवेदः तुम इस यज्ञ में पितरों का सेवन करो, जो पितर यहां विद्यमान हैं और जो यहां नहीं जिनको तुम जानते हो और जिनको नहीं जानते उनके लिये तुम पुण्य जनक यज्ञ करो।

इदम् पितृभ्यो नमो अस्त्वद्यये पूर्वासो यउ परा सईयुः। ये पार्थिवे रजस्या निषत्ताये वानूनꣳ सुवृजनासु विक्षु ॥ ६८

अर्थ—यह अन्न जनकादि पितरों के लिये हो, (ये पूर्वासः) नाम वृद्ध हैं उपरासः नाम संसार से उपरत हैं उन सबको यह अन्न प्राप्त हो। और जो रजोगुण प्रधान हैं उनको यह अन्न प्राप्त हो और जो केवल सत्व प्रधान हैं उनको यह अन्न प्राप्त हो ॥

अधायथानःपितरःपरासः प्रत्नासोऽअग्न ऋत माशुषाणाः। शुचीदयन्दीधितिमुकूथशासःक्षामा भिन्दन्तो अरुणीरपव्रन् ॥ ६९

अर्थ—हे विद्वन् जो प्राचीन पितर वैदिक कर्मों में निपुण हैं उनका तू सेवन कर ॥

उशन्तस्त्वानिधी मह्युशन्तः समिधीमहि। उशन्नुशतआवह पितॄन्हविषेअत्तवे ॥ ७० ॥

अर्थ—हे विद्वन् तुम्हारा कल्याण चाहनेवाले जो तुम्हारे पितर हैं उनको भोजनादि कराने के लिये तुम बुलाओ ।

आशय उक्त मंत्रों का यह है कि जनकादि पितरों की तथा ज्ञान विज्ञान विद्याओं में निपुण पितरों की सेवा करना सन्तानों का मुख्यधर्म है, इस धर्म का उक्त मंत्रों में प्रतिपादन किया गया है, हमने उक्त मंत्रों का केवल आशय प्रकट कर दिया है अक्षरार्थ स्वामीजी के भाष्य में किया हुआ है इसलिये उसकी यहां आवश्यकता नथी ।

पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र उक्त मंत्रों से मृतक श्राद्ध निकालतेहैं, पर मंत्रों के आशय से उनकी प्रतिज्ञा सर्वथा उलटी प्रतीत होती है । देखो मं० ६६ में उन्होंने यह अर्थ किये हैं कि हे अग्नि देवता तुमभी हवियों को भक्षण करो । यहां प्रष्टव्य यह है कि क्या उन के मतमें अग्न्यधिष्ठातृ देवता भोजनादि किया करता है ? यदि यहां केवल भौतिकाग्नि में भक्षण कर्तृत्व है तो फिर उससे भिन्न देवता मानने की क्या आवश्यक्ता है । वस्तुतस्तु सनातनाचार्य्यों के मतमें ऐसे वाक्य उपचार से आते हैं जैसाकि "तेज ऐक्षत" इत्यादि वाक्यों में स्वामी शङ्कराचार्य्यादिकों ने उपचार से व्यवस्था की है फिरकव्यवाहन भौतिकाग्नि इनके मतमें मृतपितरों को कैसेबुला सक्ता है । मं० ६९ में "येचेहपितरः" इस वाक्य के यह अर्थ किये हैं कि "जो पितर इस लोक में देहधारण करके वर्तमान हैं" द० ति० भा० पृ० ११७ यहां तो जीतों का ही श्राद्ध मानलिया । फिर इस पर टीका यह करते हैं कि "यहां इह शब्द से जीते पितरों का ग्रहण नहीं होता, किन्तु जिन्होंने मरकर कर्म वश इस लोक में

देह धारण किया है उनका ग्रहण है" द० ति० भा० पृ० ११८ इस टीका ने मृतक श्राद्धवादी का मत और मर्दन कर दिया क्योंकि हमभी तो उन्हीं को जीते कहते हैं जिन्होंने कर्मवश से देह धारण किया है। यहां तो पितृलोक की दौड़ दूर करके जीते पितरों के श्राद्ध परही आजमे, । सच है वल वह है जो वलात्कार से मनवाए, इतनाही नहीं देखो मंत्र ६८ में फिर यह अर्थ करते हैं कि "विश्वु प्रजाओं अर्थात् मनुष्यलोक में देह धारण करके वर्तमान हैं"। द० ति०भा०पृ० ११८ अब वतलाओ यहां तो फिर मर्त्यलोक के देह धारियों को पितर मान लिया, तुम्हारे पितृलोक के पितरों में क्या न्यूनता थी जो यहां मर्त्यलोक के देहधारी पितर मानने से विना निर्वाह न हुआ। इस मंत्र में तो ईश्वर को प्राप्त पितरों के लिये अर्थात् कैवल्य मुक्ति वालों के लिये भी मिश्रजीने अन्नदान माना है, क्या कैवल्य मुक्ति वाले भी अन्न खाते हैं? अथवा श्राद्ध के लालच में आकर उन विचारों की भी पुनरावृत्ति करनी है? आपतो "अनावृत्तिशब्दात्"के अर्थों में स्वामी शं०चा०के शिष्य हैं फिर ब्रह्मलोक को प्राप्त लोगों को बुलाकर बन्धन में क्यों डालते हैं॥

हमने तो आजतक यही सुना था कि पौराणिक लोग यमलोक के पितरों को बुलाया करते हैं, ईश्वर लोक के पितरों को बुलाने की प्रथा तो आपके आधुनिक वैदिकभाव से भरे हुए तिमिर-भास्कर में ही पाई गई। और जो:—

यमाय सोमः पवते यमाय क्रियते हविः । यमंह यज्ञो गच्छत्यग्नि दूतो अरंकृतः ॥ अथर्व० १८।२।१

इस मंत्र में यह माना है कि यज्ञ का फल यम को प्राप्त होता है और उसका दूत अग्नि यम के पास हवि ले जाता है, यहां तो श्राद्ध की फ़िलासफ़ी को मण्डत करते हुए वैदिकभाव का भरोसा छोड़कर सारा यज्ञ का फल ही यम लोक में पहुंचादिया, न यह सोचा कि विचारे और देवताओं का हक़ मारा जायगा, न यह सोचा कि यम के लिये सोम करने से सनातन सोम की सब हिंसा विचारे यम के सिरपर आयेगी, न यह सोचा कि:—

मुग्धादेवाउतशुनायजन्तोतगोरङ्गैः पुरुधायजन्त।
यइमं यज्ञं मनसा चिकेत प्रणो वोचस्तमिहेह ब्रवः॥
अथर्व० ७।१।५

इस मंत्र में ज्ञान यज्ञ का वर्णन किया है फिर हम यज्ञ मात्र को यम में ही क्यों लगायें? अधिक क्या॥

श्रेयान् द्रव्य मयात्यज्ञात् ज्ञान यज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माऽखिलंपार्थ ज्ञानेपरि समाप्यते॥ गी-४।३३

इत्यादि गीता के श्लोकों को भी भूलगए, जिनमें सबसे बड़ा ज्ञान यज्ञ ही माना है। कहां तक लिखें यहां तो पण्डितसाहब आग्रह से ग्रस्त होकर अपने सनातन पथ को यहां तक भूलगए हैं कि यम लोक के यज्ञ बिना पण्डितजीको और कुछ सुझा ही नहीं, देखो इसी मंत्र का सायणः—

"यद्यपि सोमो हविश्च उभे सर्वार्थे क्रियेते तथा यज्ञोपि सर्वदेवार्थः, तथापि यमस्य सर्वप्राणिसंहर्तृत्वेन वा सर्वेषां

पितृलोकप्रापकत्वेनवाप्राधान्याद् यमायैव सोमादिकं क्रियत इत्युपचर्यते"

अर्थ—यद्यपि सोम और हविः यह सबके लिये किये जाते हैं, तथा यज्ञ भी सब देवताओं के लिये किया जाता है, तथापि यम सबका संहार करने वाला है, सबको पितृलोक में प्राप्त कराने वाला है, इस अभिप्राय से यम को अधिक मानकर यम के लिये ही यह यज्ञ का फल है यह उपचार से कहा गया है॥

यहां उपचार का ध्यान भी पण्डितजीको नहीं रहा। मंत्रार्थ यह हैं (यमाय) नाम परमेश्वर के लिये (सोमः) सोम यज्ञ किया जाता है अर्थात् सोमलता विशिष्ट हवि वाला यज्ञ किया जाता है, और परमेश्वर के ही लिये हवि दिया जाता है, अग्निरूपी दूत से अलंकृत यह यज्ञ परमेश्वर को प्राप्त होता है, यह मंत्रार्थ है। इसी अभिप्राय से इस मंत्र के अर्थ सायणाचार्य्यने 'सर्वप्राणिसंहर्तृत्वेन' परमात्मा के किये हैं, क्योंकि वही परमात्मा सर्व का संहार कर्त्ता हो सक्ता है, जैसाकि "अत्ताचराचरग्रहणात्" ब्र०सू० १।२।९ इस सूत्र में सबका संहार करने से उस परमात्मा का नाम अत्ता कहा है। पं० ज्वालाप्रसादमिश्र इसमें यह लिखते हैं कि "इत्यादि मंत्रों से अग्नि का श्राद्ध में हविः ले जाना सिद्ध है" द०ति०भा० पृ० ११९ यहां श्राद्ध पण्डितसाहब ने अपनी ओर से जोड़लिया, मंत्र में कहीं श्राद्ध का नाम नहीं, यदि यह कहा जाय कि उक्त मंत्र में अग्नि को दूत लिखा है तो जब अग्नि दूत है तो जहां भेजेंगे वहां ही हवी लेजावेगा, फिर मृत पितरों के पास क्यों नहीं ले

जावेगा ? इसका उत्तर यह है कि दूत शब्द यहां अग्नि में उपचार से आया है, जिस प्रकार दूत वस्तुओं को लेजाता है इस प्रकार यह भौतिकाग्नि यज्ञमें हवन किये हुए पदार्थों को विश्लेष करके नभोमण्डल में पहुंचा देता है इस अभिप्राय से अग्नि को दूत कहागया है और इसी अभिप्राय से "अग्निदूतंवृणीमहे" इस ऋग्वेद के मंत्रमें अग्नि को दूत कहा है।

यदि यह प्रश्न किया जाय कि अग्नि देवता पितृलोक में ही पदार्थों को पहुंचाता है इस लोक में नहीं तो देखो :—

ये दस्यवः पितृषु प्रविष्टा ज्ञातिमुखा अहुतादश्च रन्ति । परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टानस्मात् प्रधमाति यज्ञात् ॥ अथर्व० १८ । २ । २८

इस मंत्र में यह लिखा है कि (ये) जो (दस्यवः) दस्युलोग (पितृषु) पितरों में (प्रविष्टा) प्रवेश कर गए हैं (ज्ञातिमुखा) पितरों जैसे आकार के हैं (आहुतादः) नाम हवन कियेहुए लौकिक अन्न को भक्षण करते हैं (चरन्ति) नाम पितरों के मध्यमें वर्तमान हैं, ऐसे राक्षस (परापुरो) नैमित्तिक हवन कर्त्ताओं को और (निपुरः) नित्य हवन कर्त्ताओं को नाश करते हैं, ऐसे मायावी राक्षसों को अग्नि इस यज्ञ से (प्रधमाति) नाम प्रधमतु अर्थात् यज्ञ से निकाल दे। यहां तो अग्नि दूतके पदार्थों का यहांही दस्युलोग भक्षण करते हैं यह वेद भगवान ने लिखा है। फिर अग्नि दूत आपका क्या बनायेगा ? इतनाही नहीं यहां तो पितृ शब्द के अर्थ को भी वेद भगवान ने साफ करदिया है, यहां विचारे पितृलोक में

पितरों को मानने वाले क्या करेंगे ? क्योंकि जब पितरों जैसी मनुष्याकृति के दस्युलोगों का पितरों में मिलजाना लिखा है तो पितर भी जीवितही पाएगए, यदि मृतक श्राद्धवादियों के मृतपितरों के आशय से यह मंत्र होता तो पितरों में दस्यु लोगों को कदापि ने मिलाता, यदि मृतकपितरों से आशय होता तो मंत्र मिलाता ही कैसे, क्योंकि पौराणिक पितर तो पितृयाणमार्ग से पितर लोकमें पहुंचे हैं वहां विचारे दस्युओं की क्या गति, हां यदि पितृयाण और देवयान द्वारा दस्युओं को क्रम मुक्ति का अधिकारी पौराणिक धर्म की नई फ़िलासफ़ी बनादे तो और बात।

ननु तुम्हारे मतमें भी यह मंत्र दुर्घट है क्योंकि यहां अग्नि से यह प्रार्थना कीगई है कि तुम पितरों से दस्युओं को भिन्न करो जड़ अग्नि के आगे ऐसी प्रार्थना कैसे ?

उत्तर—हमारे मतमें अग्निशब्द यहां परमेश्वर का वाचक है। "अङ्गति गच्छति सर्वं व्याप्नोतित्यग्निः" अर्थ—जो सबमें व्यापक होकर ठहरता है उसका नाम अग्नि है,अगि गत्यर्थकधातु से यह शब्द सिद्ध होता है, "साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः" ब्र० सू० १।२।२८ इत्यादि सूत्र और कई एक वेद मंत्रों से हम पहले भी अग्नि शब्द को ईश्वर वाचक सिद्ध कर आए हैं इस लिये यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं ।

ननु—कहीं तुम अग्निशब्द के अर्थ ईश्वर के करलेते हो कहीं भौतिकाग्नि के करलेते हो, एवं मनमाने अर्थ करने से सत्यार्थ सिद्धि कैसे ?

उत्तर—इसमें हमारा क्या दोष है जो शब्द अनेकार्थ वाची

होता है वह प्रकरणानुसार ही अर्थ देता है जैसाकि पौराणिक लोगों के मतमें देवासुर संग्राम में देवशब्द इन्द्रादि देवों के अर्थ देता है और यजुर्वेद ३।४० में देवशब्द इन्द्रियों के अर्थ देता है। "एषोऽहिदेवः प्रदिशोऽनुसर्वः" इस मंत्रमें देवशब्द ईश्वर के अर्थ देता है। और "यत्पुरुषेणहविषायज्ञंदेवा अतन्वत" अथर्व० ७।१।४ यहां देव विद्वानों के अर्थ देता है "देवा दीव्यन्तीतिदेवायजमानाः" इस मंत्र के भाष्य में सायणाचार्य्य यह लिखते हैं कि यजमानों को भी देव कहते हैं। यहां कौन कह सकता है कि उक्त स्थलोंमें देवके एकही अर्थ लेने से संगति ठीक होसकती है, एवं संगति देखकर अग्निशब्द के भी ईश्वरादि अर्थों में कोई दोष नहीं।

अब हम श्राद्ध विषयक पं० ज्वालाप्रसादमिश्र की समीक्षा समाप्त करते हैं, क्योंकि उक्त पण्डित साहब ने स्वमत मार्जन करते हुए यहांतक लिखदिया कि अग्नि दूतही यज्ञसे यमके प्रति हवि लेजाता है, इस लेखसे यह स्पष्ट सिद्ध करदिया कि श्राद्धान्न भोजन कर्त्ताओं से दूत का काम नहीं हो सक्ता। इनकी इस दुर्वलता के हेतु इनका विचार छोड़कर अब हम व्यवसायात्मकमति पं० भीमसेन के श्राद्ध विषयक लेखों की समीक्षा करते हैं॥

व्यवसायात्मक मति का विशेषण हमने पं० जी को इस अभिप्राय से दिया है कि:—

व्यवसायात्मिकाबुद्धिरेकेहकुरुनन्दन। वहुशाखा ह्यनन्ताश्चवुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ गी० २।४१

अर्थ—हे कुरुनन्दन निश्चयात्मिक बुद्धि एकही है बहुत शाखा-वाली अनन्त बुद्धियें अनिश्चयात्मक लोगों की होती है। इस पर पं० भीमसेनजी यह लिखते हैं कि "दृढ़ प्रतिज्ञावाले धर्मात्मा लोगों की (इह) इसलोक में (व्यवसायात्मक) निश्चयात्मक बुद्धि (एका) एकही होती है, वे लोग अपने धर्मयुक्त दृढ़ निश्चित विचार को कभी नहीं लौटते" भी० से० गी० भा० पृ० ९८॥

समीक्षा—हमको अभी तक यह निश्चय नहीं हुआ कि उनके धर्मयुक्त दृढ़ निश्चित विचार क्या हैं, जिनको वह नहीं लौटते? उक्त पं० जीने गीता का भाष्य करते समय "पतन्तिपितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदक क्रियाः" गीता १।४२ इसके अर्थ यह किये हैं कि (लुप्तपिण्डोदकक्रियाः) अन्न जल देने का जिनका व्यवहार छूटगया है ऐसे (पितरः) रक्षक वा पितृपितामहादि लोग (पतन्ति) दुःख विशेष नरक में गिरते हैं। इस श्लोक में पिण्ड शब्द आया है सो मनुस्मृति के अ० ११ में पिण्ड नाम ग्रास का है। अब इस विचार को यों बदला है कि यहां से पिण्ड देने से पितृ लोक में पहुंच जाते हैं, (१) उक्त श्लोक में पितर के अर्थ रक्षक के किये थे और पिता पितामहादि जीवित पितरों के किये थे "अब यमलोक में रहने वाले मृतक पितरों के करते हैं। और यहांतक दृढ़ प्रतिज्ञाकीजातीहै कि स्थूलदेहधारी जीवित मनुष्यों का पितर मानना सर्वथा युक्ति प्रमाण शून्य है" ब्रा० स० खं० १।३ पृ० ९२।

(२) पहले जिन श्राद्ध विषयक मनु के श्लोकों को

प्रक्षिप्त बतलाते थे अब उनको अलौकिक पितरलोक के भण्डार मानते हैं। (३) पहले यम को एक आचार्य्य मानते थे अब यम प्रेतलोक का राजा मानते हैं। (४) पहले कठकी तृतीया वल्ली में जो श्राद्ध शब्द आया है उसको श्रद्धापूर्वक सत्कार करना मानते थे। अब मुर्दों के निमित्त जो यहां से भोजन पहुँचाने का प्रकार है उसको श्राद्ध मानते हैं। (५) पहले पितृयाण और देवयान को कर्म प्रधान और ज्ञान प्रधान दो मार्ग मानते थे अब पितर और देवताओं के जाने के मार्ग विशेष मानते हैं। इत्यादि अनेक धर्म युक्त दृढ़ निश्चित विचारों को लौटकर आप व्यवसायात्मक मति कभी नहीं कहला सक्ते, पण्डित साहब पहले विचारों को परिवर्तन करने का कारण यह बतलाते हैं "मैं अन्योंके तुल्य पहलेभी आर्य्य समाजी नहीं था" ब्रा० स० १-२ पृ० ७३ समीक्षा—यदि आप अन्यों के समान पहले आर्य्यसमाजी न थे तो आर्य्यसिद्धान्त का पोथा, ईश, केनादि आठ उपनिषद्, मनुभाष्य, गीता भाष्यादि पुस्तक कौन आकर लिख गया? अथवा उस समय आपका अधिष्ठातृ देवता कोई और था? वह सनातनधर्म की कौन बात है जो आपने अपने पुस्तकों में खण्डन नहीं की। फिर आप कैसे कहते हैं कि मैं अन्य लोगों के तुल्य पहले भी आर्य्यसमाजी नहीं था, यदि आपका तात्पर्य्य यह है कि मेरे दिल में आर्य्यसमाज न था किन्ही कारणों से लिखता था तो इसका क्या प्रमाण है कि अब आप हृदय से सनातन धर्मी हैं। और जो आप यह लिखते हैं कि

"मैं आर्य्यसमाज को वेद शास्त्रानुकूल आस्तिक बनाना चाहता था सो जब इसका सुधारना असाध्य देखा तो छोड़ दिया"। आ० १-२ पृ० ७३

समीक्षा-(१) आपको आ० स० के सुधार की धुन तब से समझें कि जब आप अपने ग्रंथों पर यह लिखा करते थे कि श्री दयानन्द सरस्वती स्वामिनां शिष्येण भीमसेन शर्म्मणा (२) अथवा जब गीतादि भाष्यों पर स्वामी जी का नाम छोड़कर केवल अपना ही नाम लिखने लगे तब से सुधार की धुन समझें ? (३) जब पशु वध यज्ञ की आपको धुन लगी तब से सुधार की धुन समझें ? (४) सन् १८९० के आ० सि० भा० १० अं० ७।८।९ में आपने अपनी यह सफाई दी कि यज्ञ विषय में मेरा विचार साध्य कोटी में है स्वामीजीके और सिद्धान्तों को मैं ठीक मानता हूं. तब से सुधार की धुन समझें ? (५) अथवा जब आपने तटस्थ बनकर यह लिखा कि "इतने काल तक वे लोग मेरे शरीर को भी विचार कोटी में ही समझें" तब से सुधार की धुन समझें ? (६) वा जब स्वामीजी आपको स्वप्नमें आकर मिले और सब आर्य्यसमाजियों में सबसे बड़ा पण्डित होने का सार्टिफिकेट आपको दे गए" तब से सुधार की धुन समझें "अथवा जब आपने यह लिखा कि पौराणिक मूर्तिपूजा गङ्गास्नान से मुक्ति, तीर्थावतारादि वेद बाह्य अंशों को मैं वैदिक नहीं मानता वा मूर्तिपूजादि वैदिक धर्म नहीं, इस कारण उसके मान्य होने का मैं अनु-

मोदन नहीं करता" आ० सि० भा० १० अं० ७ तब से सुधार की धुन समझें (८) अथवा जब आपने यह लिखा हैं कि "मैं स्वामीजीका काम करता हूं इसलिये स्वामीजीका शिष्यहूं" तबसे सुधारकी धुन समझें। (९) वा आर्य्यसमाज के हितका विचार करते हुए देहली महामण्डल के महोत्सवपर आ० स० ने आपको ता० १२।८।९० को तार देकर बुलाया, उस स्थान में आपने अपनी सब भूलें स्वीकार करके स्वपत्र में प्रकाशित करदीं तबसे सुधार की धुन समझें? अथवा

(१०) यदिमामप्रतीकारमशस्त्रंशस्त्रपाणयः।
धार्त्तराष्ट्रारणेहन्युस्तन्मेक्षेमतरंभवेत्॥ गी० १।४६

यह श्लोक लिखकर कहा कि जैसे अर्जुन ने कहा था कि मुझे खाली हाथ आगे से हाथ न उठाते हुए दुर्योधनादि मुझे मार डालें तो कल्याण है पर मैं आगे से हाथ न उठाऊंगा "इसी प्रकार मैं भी कहता हूं कि आर्य्यसमाजस्थ लोग मुझको अत्यन्त तंग करें, सीमा से भी अधिक दुःख पहुंचावें तो भी मैं आर्य्यसमाज का प्रतिपक्षी जीवन भर न बनुंगा और प्रतिपक्षियों को सहायता भी कदापि नहीं दूंगा किन्तु आवश्यकता होने पर आ०स० को ही सहायता दूंगा, मैं प्रथम से आ० स० में रहकर सब प्रकार के कार्य्य वा सहायता, आर्य्यसमाज से मुझको मिली और मुझ से भी समाज को सहायता मिली, और अब यदि मैं

स्वयं प्रति पक्षी बनूं वा प्रतिपक्षियों को सहायता दूं तो कृतघ्नता दोष मुझको होगा। अब रहा यज्ञादि विषय का विचार सो सब आर्य्य लोगों को जैसा अच्छा लगे विचार करें और मानें, मैं इस विषय में प्रतिपक्ष के प्रकार से आगे कुछ नहीं लिखुंगा। इस लिये आप अवश्य ही पिछली धृष्टता को क्षमा कीजिये" आ० सि० भा० १० अं १२

आपका भीमसेन शर्म्मा सरस्वती प्रेस इटावा ॥

इस लेखमें पूर्वोक्त दृढ़ प्रतिज्ञाओंसे अपनी धृष्टताकी क्षमा मांगी, तबसे सुधार की धुन समझें ? (११) अथवा जब आपने अपनी सब पूर्वोक्त प्रतिज्ञाओं पर पानी फेरकर पण्डित गोपीनाथ के साथ सनातन पक्ष में मिलकर दिग्विजय के लिये चढ़ाई की, तबसे सुधार की धुन समझें ? (१२) इतने में भी सन्तुष्ट न रहकर जब आपका सौदा सर्वथा ही आर्य्यसमाज में फीका पड़ गया "फिर अपने ही लेखों को खण्डन करने के अभिप्राय से लेखनी उठाई" तब से आ० स० के सुधार की धुन समझें ? कहां तक लिखें आपके विचारों का सार और इस धुन का पार पाना दुर्घट है ॥

इसके पार पाने में दुर्घट घट्ट घटनापटीयसी बुद्धि आप ही की रहे, हम यहां इतना अवश्य दर्शा देते हैं कि "सूर्य्याचन्द्रमसौधातायथापूर्वमकल्पयत्" इत्यारभ्य प्रलयान्त यह उदाहरण केवल आपके विचार कोटी के शरीर का ही मिलता है जिसने गीता,

उपनिषद्, धर्मशास्त्रादि अनेक शास्त्रों का भाष्य करके पश्चिमावस्था में यह पश्चात्ताप किया हो कि यह मैंने सब मिथ्या लिखे, और अकस्मात् उन मन्तव्यों का ग्रहण कर लिया हो कि जिनको वह यावदायुष खण्डन करता चला आया हो। और फिर अपने आपको शास्त्रों की मीमांसा करने वाला, धर्म की मर्य्यादा बनाने वाला, भूलों को राह बतलाने वाला कहे॥

आप अपने श्रीमुख से कुछ ही कहें लोग तो आपको "नायं लोकोऽस्तिनपरो नचसुखंसंशयात्मनः" इस गीता के श्लोक में ही स्मरण करेंगे। इतना ही नहीं प्रत्युत "यदि मैं स्वयं प्रतिपक्षी बनूं वा प्रतिपक्षियों को सहायता दूं तो कृतघ्नता दोष मुझको होगा" आ० सि० १०।१२ इस प्रतिज्ञा को भंग करके जाल लालनार्थ वक्ष्यमाण उत्तर देने से आपको अपूर्व पुरुष ही मानेंगे। वह उत्तर यह है आ० स० १।४ शङ्का समाधान में लिखा है॥

शङ्का—अनुमान तीन वर्ष हुए तब तुमने आर्य्यसिद्धान्त के टाटिल में छपाया था कि हमको चाहें आर्य्यसमाजी लोग कैसा ही बुरा कहें वा लिखें पर हम कदापि उनके साथ द्वेष नहीं करेंगे हम सदा उनका भला ही चाहेंगे इत्यादि। परन्तु अब तुम बड़े समारोह से इन लोगों का खण्डन करते हो सो क्या तुमने अपनी लिखी प्रतिज्ञा से विरुद्ध नहीं किया॥

समाधान—हमारा यह विचार जैसा पूर्व था वैसा ही अब है। हमने अब तक भी व० आ० स० के साथ द्वेष

वा विरोध नहीं किया न करेंगे। और हमने यह नहीं लिखा वा छापा था कि हमको वेद शास्त्र से विरुद्ध मन्तव्य व० आ० स० का वा स्वामीदयानन्दजी का ज्ञात होगा तो हम उसको भी प्रकाशित न करेंगे ॥

समीक्षा–यह उत्तर वाल लालनार्थ नहीं तो और क्या है पण्डित जीने अपने समान सब लोगों को संशय सागर की लहर में निमग्न देखकर यह समझा है कि कुछ न कुछ लिख दो न लिखने से तो अच्छा ही है और नहीं तो द्वेषाग्नि के धूम से दूषित नयन वाले आग्रह मात्र के सनातनी तो इसको समर्थन करेंगे ही, पर यह नहीं सोचा कि हम अपनी प्रतिज्ञा समर्थन में यह क्या लिखते हैं ॥

प्रतिज्ञा यह थी कि "स्वयं प्रति पक्षी न बनेंगे प्रतिपक्षियों को सहायता न देंगे, यदि देंगे तो कृतघ्नता का दोष लगेगा," अब उत्तर यह है कि हम शास्त्र की मीमांसा करते हैं आर्य्यसमाज वा स्वामीदयानन्द सरस्वती जीके साथ कोई विरोध नहीं। "पौराणिक मूर्त्तिपूजा, गंगास्नान से मुक्ति, तीर्था वतारादि वेद वाह्य अंशो को मैं वैदिक नहीं मानता, वा मूर्त्तिपूजा भी वैदिक धर्म नहीं, इस कारण उसके मा न्य होने का अनुमोदन मैं नहीं करता। इत्यादि कारण तो पौराणिक मेरे अनुकूल नहीं। आ० सि० भा० १.० अं० ७।८।९ क्यों पण्डित साहब अब तो आपके लेखों में उक्त बातों का भी अनुमोदन होने लगा और यदि नहीं तो क्या कारण है कि अब आपकी सारी मीमांसा आर्य्यसमाज के प्रतिपक्ष में क्यों होती

है ? पौराणिक पक्ष के प्रति पक्ष में क्यों नहीं ? आपकी प्रतिज्ञाओं में तो यह भी है कि इससे आगे मैं आ० स० के प्रति पक्ष में कुछ नहीं लिखुंगा, क्या अब भी आप कुछ नहीं लिखते, ? और यदि आपका दोषदर्शी होकर ही भलाई करने का स्वभाव है तो क्या ऐसा प्रेम सनातनधर्मियों से भी पालते हैं ? सचतो यह है आप अपने सौदे को सौ वर्ष तक छिपाएं वा किसी से विगाड़ें और किसी से वनाएं, अपने आपको शास्त्रज्ञ कहकर सौ प्रकार के गीत गाएं, पर अब आपकी महिमा किसी से छिपी नहीं ॥

हां अब आपकी मीमांसा का सौदा सनातनियों से वनगया है इस लिये अब उनके भले बुरे की मीमांसा से आपका क्या काम । अब तो आप अपने पूर्व लेखों पर चौका फेरने से ही चतुर कहलायंगे, आर्य्यसमाज को व० आ० स० बतायंगे, और आर्य्यसमाज छोड़ने की एक नई भूमिका वनायंगे । इत्यादि भीमसेनी विचारों के सारासार की अधिक समीक्षा करने से ग्रंथ ग्रंथसाहब के समान बृहत् होता है अतएव इस समीक्षा की समाप्ति करके हम पं० भीमसेन के श्राद्ध विषयक आधुनिक विचारों की समीक्षा करते हैं इस विषय में आप अभिमान पूर्वक यह लिखते हैं कि "अब हम मंत्र संहितादि के प्रमाणों द्वारा सिद्ध करेंगे कि श्राद्ध जीवितों कानहीं किन्तु मृतकोंकाहोताहै" आ०स०१-३पृ० ९३ और यहां यह भी लिखा है कि "जीवित मनुष्यों का पितर मानना सर्वथा युक्ति प्रमाण शून्य है" आ० स० १-२पृ० ९२

पहलेआप "देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्" तै० शिक्षा

वल्ली में देव के अर्थ अध्यापक और पितृ के अर्थ मनन शील ज्ञानी के कर आए हैं फिर कैसे कहते हैं कि जीवित मनुष्यों का पितर मानना सर्वथा युक्ति प्रमाण शून्य है । क्या उस समय के युक्ति और प्रमाण अब पुराने हो गए ॥

मृतक श्राद्ध में संहिता का आप यह मंत्र प्रमाण देते हैं:—

उदन्वतीद्यौरवमापीलुमतीतिमध्यमा । तृतीयाह प्रद्यौरितियस्यांपितरआसते ॥ अ० १८ । २ । ४८

इसके यह अर्थ करते हैं कि तीन प्रकार का द्यौ लोक है एक उदन्वती द्यौ है जिसमें यह नीलापन दीखता है । दूसरी मध्यमा उस नीलेपन से ऊपर पीलुमती द्यौ है । तीसरा भाग जो सबसे ऊपर है वह प्रद्यौ कहलाता है जिस में पितर लोग रहते हैं, इन्हीं पितरों का श्राद्ध होता है । स्थूल देहधारी पितर पृथिवी में रह सक्ते हैं तृतीयाकाश में नहीं इससे जीवितों का पितर होना और उनकाश्राद्ध मानना दोनों अंश खण्डित हो जाते हैं ब्रा स० १।३ पृ ९४

समीक्षा—पण्डित साहब की प्रतिज्ञा यह है कि जिनका वर्णन यहां तृतीयाकाश में कियागया है वही पितर हैं, उन्हीं का श्राद्ध होता है । पर पण्डित साहब को इतनी प्रतिभा नहीं कि आगे के मंत्र ४७ में यह लिखा है कि "अधिक्षयन्तिपृथिवीमुत" जो पितर पृथिवी में रहते हैं । अब बतलाएं कि यदि इनके अशरीरी पितर देवलोक मेंही रहते थे तो वेदने पृथिवी में रहने वालों को पितर क्यों कहा ?

और पुष्ट प्रमाण यह है कि अथर्व० १८।२।२९ मंत्रमें हमने पितरों में दस्युओंका मिलजाना पीछे दिखलाया है उससे स्पष्ट सिद्ध होगया कि पितर जीवित हैं जिनमें उनकी आकृति के दस्यु मिलजाते हैं।

और जो प० भीमसेनजी जीवितमृत की परिभाषा में यह लेख लिखते हैं "कि जो मृत हैं वे भी जीवित और जो जीवित हैं वे भी मृत हैं"। ब्रा०स० १-३ पृ० ९४ इसमें तो पण्डित साहब ने अपूर्व फ़िलासफ़ी छांटी है यदि ऐसाही है तो जीवितों के श्राद्ध से रोष क्यों? फिर आगे जाकर यह लिखते हैं कि "आत्मावाक्षेत्रज्ञ" न मरता है न जन्म लेता है किन्तु भूतात्मा मरता जन्मता है। इसकी पुष्टिमें यह प्रमाण देते हैं कि "अथा मृता पितृषुसंभवन्ति" अथर्व० १८।४।४८ और मरे हुए प्राणी (भूतात्मा) पित्रयोनि में उत्पन्न हों॥ ब्रा०स० १-३-९४॥

समीक्षा—उक्त वेद वाक्य के तो यह अर्थ हैं कि जो लोग मृत होते हैं वह पितृनाम ज्ञानी पुरुषों की योनि में जन्मलें, पितृ शब्द का यहां कोई नया अर्थ नहीं, तैत्तिरीयोपनिषद् की शिक्षावल्ली में इस अर्थको प० साहब मान आए हैं अब रही यह बात कि क्षेत्रज्ञ का जन्म प० साहब नहीं मानते और भूतात्मा का मानते हैं, यही भाव आपने इस वेद वाक्य से निकाला है, भला वेद वाक्य में क्षेत्रज्ञ और भूतात्मा कहां हैं? लो वेद को जानेदो इसी बात को बतलाओ कि क्षेत्रज्ञ तो आप जीवात्मा को मानते हैं, गीता० १३।१ में आप इसके अर्थ जीवात्मा के कर आए हैं फिर उस क्षेत्रज्ञ जीवात्मा का जन्म क्यों नहीं होता? यदि आपका

आशय यह है कि भूतात्मा लिंग शरीर विशिष्ट को कहते हैं और क्षेत्रज्ञ शुद्ध चेतन को कहते हैं तो बतलाइये "तदन्तर प्रतिपत्तौरंहतिसंपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्" ब्र० सू० ३।१।१ में जीवात्मा का जन्म क्यों लिखा है, क्या अब आप व्यासजी से भी बढ़गए जो क्षेत्रज्ञ के जन्मका निषेध करते हैं अथवा सनातनी बनतेही शङ्करमत की हवा लगगई जिससे जीवात्मा के जन्म मरण को भी जलांज्जली देबैठे, पर क्या अब आप अपने लेखों को मिटा सक्ते हैं, और उनको फेर फार के शङ्करमत से मिला सकते हैं कदापि नहीं। पर यहां फेर फार होही क्या सकती है स्वामी शङ्कराचार्य्य तो उसीको जीव मानते हैं जो लिङ्ग शरीर विशिष्ट है फिर आपने क्षेत्रज्ञ के जन्मका निषेध कहां से निकाल लिया, मालूम होता है कि जैसे २ आप पश्चिमावस्था में पहुंचते जाते हैं वैसेही पूर्व २ बातों को भूलते चले जाते हैं इसलिये आपकी फ़िलासफ़ी बड़ी टेढ़ी होती चली जाती है क्यों पं० साहब भूतात्मा के अर्थ तो बतलाइये कि भूतात्मा शब्द के क्या अर्थ हैं भूतानां आत्मा–भूतात्मा अर्थात् भूत नाम प्राणियों का आत्मा? अथवा भूत पृथिव्यादि तत्व उनका आत्मा? इन विकल्पों में भूतात्मा के अर्थ परमात्मा वा जीवात्मा के ही होते हैं, फिर यह फ़िलासफ़ी आपने कहांसे निकाली कि जीवात्मा का जन्म नहीं होता भूतात्मा का होता है। आगे आप लिखते हैं कि मैत्रेयी उपनिषद् में इसका अच्छे प्रकार से वर्णन है मालूम होता है कि आपने मैत्रेयी उपनिषद् का पाठ किया है वरन ऐसा भूतात्मा कहांसे निकल आता कि जो मरता जन्मता है और क्षेत्रज्ञ नहीं, अस्तु आप लिखते हैं कि

हम उस भूतात्मा का श्राद्ध करते हैं। तो अब बतलाओ कि उस का तो आप जन्म मरण मानते हैं जन्म समय में जन्मा और मृत्यु काल में मरजायगा फिर श्राद्ध किसको पहुंचेगा? अधिक क्या आपके क्षेत्रज्ञ और भूतात्मा में भेद करने से भान यह होता है कि आप दर्शनशास्त्र को कभी देखते ही नहीं, इसलिये मनमानी फ़िलासफ़ी घड़लेते हैं जैसाकि यह लिखा है "कि इस कुतर्क को पहले से ही निर्मूल काट देने के लिये हम अपने साध्य पक्षस्थ प्रतिज्ञा का स्पष्ट व्याख्यान कर देते हैं" ब्रा० स० १-३-९५

समीक्षा-इस लेख से तो आपने भाषा का पाण्डित्य और तर्क का पाण्डित्य प्रकट कर दिया जो निर्मूल के लिये फिर काटना लिख दिया, अर्थात् भावाभाव प्रतियोगी रूप से अपना अर्थ ही विगाड़ दिया और साध्य पक्षस्थ प्रतिज्ञा लिखकर तो तर्क का तर्पण कर दिया। क्यों पण्डितजी साध्य प्रक्षस्थ प्रतिज्ञा के क्या अर्थ हैं? साध्य का जो पक्ष अर्थात् जिसमें साध्य रहता है उस पक्ष में रहने वाली प्रतिज्ञा? क्या प्रतिज्ञा भी साध्य के समान पक्ष में रहा करती है जो आपने साध्य पक्षस्थ प्रतिज्ञा लिखा? अधिकक्या इस समीक्षण से समय व्यर्थ जाता है यह तो हम प्रथम ही लिख आए हैं कि आप दर्शन शास्त्र का दर्शन नहीं किया करते, इस लिये आपके लेख पौराणिक दिव्य दृष्टि से देखने योग्य होते हैं जैसा कि आप यह लिखते हैं कि "आर्य्यसमाज का श्राद्ध ही मुर्दों का श्राद्ध है जो चारवाक मत से मिलता है और

हम लोग सूक्ष्म भूतात्मा चेतन मात्र का श्राद्ध मानते करते हैं" ब्रा० स० १ । ३ । ९५ ॥

समीक्षा—यदि आप चेतन मात्र का श्राद्ध करते हैं तो "येअग्निष्वात्तायेअनग्निष्वात्ता" यजु० १९ । ६० "येअग्नि दग्धा येअनग्निदग्धा" अथर्व० १८ । २ । ३५ इत्यादि मंत्रों में अग्नि से दाह क्या उस चेतन मात्र का मानते हो ? यह बात तो मोटी समझ वालों की समझ में भी आती है कि अग्निष्वात्तादि पितर आपके मत में स्वर्ग में रहते हैं, स्वधारूप अन्न का भोजन करते हैं फिर यह चेतन मात्र का श्राद्ध कैसे हुआ ? यह हम पहले भी लिख आए हैं कि यदि अग्निष्वात्तादि शब्दों का लक्ष्यार्थ लेकर मृत जीवों का श्राद्ध सिद्ध करते हो तो जहां २ तात्पर्य्यानुपपत्ति हो वहां २ सभी जगह लक्षणा क्यों नहीं करते ? अस्तु दर्शन शास्त्र के अभ्यास से विना लक्ष्यार्थ का विचार तो सूक्ष्म है इसको जाने दो पर यह बतलाओ कि:—

"येनिखाता येपरोप्ता येदग्धा येचोद्धिता" इत्यादि मंत्रों के जो ये अर्थ करते हो कि मरने पर जिनको खोदके गाड़ दिया, जो वन वा जंगल में छोड़ दिये गए, जो अग्नि में जला दिये गए, ब्रा० स० १ । ३ । ९८ क्या यह भी चेतन मात्र थे? जिनको गाड़ दिया गया, जला दिया गया, जंगल में फेंक दिया गया, यह तो स्थूल दर्शी की भी समझ में आता है कि इन पृथिवी में गाड़े हुए और अग्नि में जलाए हुओं को ही आपका अग्नि देवता इकट्ठे करके लाता है और इन्हीं को श्राद्ध का भोजन खिलाता है, अब बतला

ओ कि मुर्दों का श्राद्ध यह हुआ या जिसको आ० स० बतलाता है वह हुआ। आप "अग्निष्वात्ता" शब्द पर बहुत बल देते हैं और अर्थ यह करते हैं कि अग्निनास्वादिता अग्निष्वाता, पर आपको यह मालूम नहीं कि इस अर्थ करने से षत्व नहीं होता, अस्तु। पर आपके चेतन मात्र का श्राद्ध तो इस अर्थ से भी सिद्ध नहीं होता, अब बतलाओ कि पाणिनीय व्याकरण से, संहिता से, तर्क से, किसका अर्थ विरुद्ध हुआ, और जो आप बार २ शतपथ की शरण लेते हैं क्या आप भूल गए, आ०सि० भा०१० अं०१२ में आप यह लिखआए हैं कि स्वामीजी से पौराणिकों का सिद्धान्त इसलिये भिन्न है कि "पौराणिक लोग सब ब्राह्मणों, सब शाखाओं को और सब उपनिषदों वा आरण्यकादि अनेक वा अपरिमित पुस्तकों को वेद मानते हैं" इस लेख में आपने अपने मुख से ही सब ब्राह्मण ग्रंथों को वेदवत् मानना पौराणिक लोगों का मन्तव्य ठहराया है, फिर बार २ शतपथ को स्वतः प्रमाण बनाकर हमारे गले क्यों मढ़ते हो। और यदि शतपथ का कथन वेदानुकूल है तो सिद्ध करो? यह वही शतपथ है जिसमें मत्स्यकी कथामें यह लिखा है कि मत्स्य ने प्रलयकाल में सब ब्राह्माण्ड को अपनी पीठपर उठाकर बचाया और मत्स्य के सींग में रस्सा डालकर हिमालय की चोटी वाले बृक्षके साथ जाबांधा। ऐसी गप्पों के श्रद्धालु तो आजकल आप ही बने हैं जो इन सबको सिद्ध करने के लिये कटिबद्ध हैं, अस्तु फिर एवंविध शतपथ के वेद विरुद्ध स्थलों का हम को उपालम्भ क्यों?

आप लिखते हैं कि " शतपथ० २-३-४-२-३ में पितरों के लिये प्रत्येक महीने में एक बार और मनुष्यों के लिये प्रतिदिन सायं प्रातःकालदोबारभोजन प्रजापतिने नियत कियाहै" आ०स०१-३-९९ इससे आपने हमारे जीवित श्राद्ध पक्षमें तो ये आपत्ति दी कि जीवित पितर ऐसे कब हो सकते हैं कि जो एक महीनेमें एकदिन ही खाकर रहें। और अपने पक्षका समाधान यह किया है कि पितृ योनिमें ऐसा सामर्थ्य होजाता है जो महीनेमें एक दिन खाने से महीने भर की तृप्ति रहे। यहां आप इतनी छोटी और थोड़ी तृप्ति सेही तृप्त क्यों होगए, आपके यहां तो १२ वर्ष की तृप्ति लिखी है उसके आगे यह एक महीने वाली शतपथ की तृप्ति क्या अस्तित्व रखती है, अस्तु ऐसे अर्थवादों के अर्थ से व्यर्थ ग्रंथ बढ़ता है, हम आपके संहिता विषयक बल का ही अधिक समीक्षण करते हैं।

संहिता विषय के जो आपने "ये अग्निष्वात्ता:" "ये अग्निदग्धा:" "ये निखाता:" इत्यादि मंत्र प्रमाण दिये हैं इनके अर्थाभासों का खण्डन तो हम पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र की समीक्षा में सम्यग् रीति से कर आए हैं, आपका प्रथम मंत्र " उदन्वती द्यौ" के तीन प्रकार के स्वर्गों का समाधान करना है।

स्वर्ग नरक वाची शब्द देश विशेष के वाचक नहीं किन्तु दशा विशेष के वाचक होते हैं। जैसा कि केनोपनिषद् के अन्त में "स्वर्गे लोके" के आपने यह अर्थ कियें हैं (स्वर्गे) सुख स्वरूप (लोके) सूक्ष्म बुद्धि व ज्ञान दृष्टि से देखने जानने योग्य। इस स्थल में

आपने सुख की दशा विशेष का नाम ही स्वर्ग माना है और फिर कठोपनिषद् के १२वें श्लोक में इस बात को स्पष्ट कर दिया कि जिसमें सुख विशेष हो ऐसे स्थान विशेष को भी स्वर्ग कह सक्ते हैं। जैसे कि "जिसमें दुःख की सामग्री का प्रायः अभाव तथा सुख सामग्री की अधिकता हो ऐसे विशेष स्थान सब पृथिव्यादि में हो सक्ते हैं" आ० स० १।३। भा० १० यहां तो आपने सब स्थान कहके पितृ लोक को भी भीतर सम्मिलित कर दिया कि वह भी पृथिवी लोक में ही हो सक्ता है किसी अन्य स्थान में नहीं। फिर आपका पितृ लोक आकाश में कहां जावना? यदि आप यह कहें कि जिस समय हमने यह उपनिषद् भाष्य किया था उस समय हमको लोक लोकान्तर नहीं सूझते थे अब पौराणिक धर्म की दिव्य दृष्टि से सूझने लगे हैं तो इसका उत्तर—यह है कि शब्दार्थ करने का साधन जो व्याकरण है वहतो आपका उस समय भी यही था और अब भी वही है फिर यह आप कब कह सक्ते हैं कि लोकवाची शब्द दशा विशेष के अर्थ नहीं दे सक्ते, देखो अथर्व० १८।३।२ में सायणाचार्य्य यह अर्थ करते हैं कि "लोक्यतेअनुभूयते जन्मान्तर कृत धर्माधर्मफलं सुखदुःखात्मकम् अस्मिन्निति लोकः" अर्थ—लोक्यते नाम अनुभव किया जाता है और जन्मों से किया हुआ धर्माधर्म का फल जिसमें, उसको लोक कहते हैं। इस अर्थ में दशा विशेष के अर्थ लोक शब्द देता है, हमको आपके समान यह आग्रह नहीं कि स्थान विशेष के अर्थ लोक शब्द नहीं देता किन्तु यह अर्थ भी देता है, पर योग्यता के अनुसार अर्थों का निर्णय होता है जैसाकि

"सप्रजापतिरात्मनोवपामुत्खिदत्" इसके यह अर्थ नहीं हो सक्ते कि ब्रह्मा ने अपनी चर्बी को उखाड़ डाला किन्तु तात्पर्य्य विषयीभूत जो अन्यार्थ है उसी की प्रतीति यहां उचित है, सो यहां आपके पशुयज्ञ के स्वाध्यायी लोग तात्पर्य्य विषयीभूत पशु प्राशस्त्य लेते हैं अर्थात् ब्रह्मा ने हवन के लिये वपा नाम अपने मेद को उखाड़ डाला, इस अर्थवाद वाक्य में यह तात्पर्य्य है कि यज्ञ में पशु डालने की श्रेष्ठता है। अस्तु यह उदाहरण आपके मत का है विवक्षितांश यह है कि योग्यता के अभाव में तात्पर्य्य विषयी भूतार्थ का ही बोध होता है अन्यार्थ का नहीं, एवं तीन प्रकार के द्यौ का भी यहां योग्यतानुसार ही अर्थ लिया जायगा॥

यह बात सर्व सम्मत है कि पितृ शब्द रक्षाकरने, पालनकरने केही अभिप्राय से आता है फिर ऐसे पितरों के निवासकी योग्यता ऐसे प्रद्यौ में कैसे पाई जाती है जिसको आप सबसे ऊपर अन्तरिक्ष का तीसरा भाग सूर्य्य के समान प्रकाश वाला मानते हैं। पितरों के निवास की योग्यता वक्ष्यमाण अर्थों में पाई जाती है। प्रकर्षेण दीव्यतीति–प्रद्यौः, अर्थात् जो अत्यन्त प्रकाश वाली दशा है उसमें पितर रहते हैं। इसी अभिप्राय से पितृयाणमार्ग को चन्द्रलोक की प्राप्ति कहते हैं अर्थात् वह चन्द्रलोक के समान प्रकाशवाली दशा में रहते हैं, और यही अर्थ आपने भी गी०८।२५ में किये हैं जैसे कि "चान्द्रमसंज्योतिप्राप्यनिवर्तते" चन्द्रमा सम्बन्धि सोम तत्व प्रधान सर्वोत्तम स्वर्गादि नामक सुख को प्राप्त होकर

संसार मेंही निवृत्ति हुआ रहता है किन्तु शरीरान्त के पश्चात् मुक्त नहीं होता। क्यों पण्डितजी यहां आपका अन्तरिक्ष का तीसरा भाग कहां गया, यहां तो पितृयाण के यात्रियों को सर्वोत्तम सुख में ही प्राप्त कराके छोड़ दिया अन्तरिक्ष के तीसरे भाग में क्यों न पहुंचाया। इस प्रकार पितरों के निवासस्थान की योग्यता से उक्तार्थ ही पाए जाते हैं अन्तरिक्ष का तीसराभाग नहीं। एवं तीन प्रकार का द्यौ उत्तम, मध्यम, मन्दावस्था के अभिप्राय से कहा गया है, मध्यमा द्यौ पीलुमती कहलाती है अर्थात् उसका प्रद्यौ की अपेक्षासे मध्यम प्रकाश है। "उदन्वती द्यौ" एक प्रथमावस्था की द्यौ है उसका जल के समान प्रकाश है जैसाकि जल शुभ्रवर्ण का होता है, पर इन तीनों अवस्थाओं में से (पितर) ज्ञानी लोगों की प्रद्यौ अवस्था है, राजसों की मध्यमा द्यौ अवस्था है, और तामसों की अवमा द्यौ अवस्था है अर्थात् मन्दावस्था है। उक्त तीन प्रकार की अवस्थाओं में से प्रद्यौ को पं० भीमसेनजी ने यमराज का पितृलोक बनाकर अतिभयानक बनादिया।

उक्त प्रकारसे इनके श्रीमुखसे निकले हुए आक्षेपों का इन्हींके श्रीमुखसे समाधान कियागया। अब औरलो अथर्व० १८। ४।७८ मंत्र में आप "स्वधापितृभ्यःपृथिवीसद्भ्यः" इस मंत्र की प्रतीक देकर पण्डितजी ने अपने प्रद्यौ अन्तरिक्ष के तीसरे भागमें रहने वाले पितरों को फिर उठाकर पृथिवी पर फेंक दिया, अस्तु पितर आकाश में रहें वा पाताल में रहें वा पृथ्वी में रहें हमें इससे क्या, हमने तो पं० जी के मृतकश्राद्ध का बल देखना था सो आप

गन्धमात्र भी नहीं निकाल सके ॥

सप्तविंशति मन्तव्ये मृतकश्राद्ध खण्डनं समाप्तम् ॥

—०:०—

(२८) इस में स्वामीजीने विद्वानों का सत्कार पदार्थ विद्या से उपयोग और अग्निहोत्रादिकों से जल वायु की शुद्धि इत्यादि अनेक कर्म प्रधान यज्ञ माने हैं, वास्तव में वैदिक यज्ञ यही थे इसी अभिप्राय से गीता में लिखा है कि:—

एवंवहुविधायज्ञावितताब्रह्मणोमुखे। कर्मजान्वि द्धितान्सवानेवंज्ञात्वाविमोक्ष्यसे ॥ गी० ४।३२

अर्थ—एवं बहुत प्रकार के यज्ञ ब्रह्मणोमुखे नाम वेद में कथन किये गए हैं उन सबको कर्म प्रधान ही समझो, उक्त यज्ञों के यथार्थ ज्ञान से तुम मुक्त हो सक्ते हो। वास्तव में यज्ञ यह थे जिनको अब पौराणिक लोगों ने हिंसा प्रधान बना दिया, जैसाकि "हृदयस्याग्रे वद्यति" इत्यादि वाक्यों में यह लिखा है कि पहले पशु का हृदय काटे फिर अन्य अंगों को काटे, पर वेद में इसका गंधमात्र भी नहीं पाया जाता, प्रत्युत निषेध पाया जाता है देखो:—

"मुग्धादेवाउतशुनायजन्तोतगोरङ्गै: पुरुधायजन्त" अथर्व० १७।९।५ अर्थ—वे मूर्ख यजमान हैं जो कुत्तों से लेकर गौओं के अंगों तक यज्ञ में डालते हैं ॥

निन्दित से निन्दित यहां कुत्ता लिया और उत्तम से उत्तम गौ, इससे यह सिद्ध किया कि किसी प्राणी मात्र का यज्ञ में वध नहीं

करना चाहिये। इसी लिये जिन ग्रंथों में पशुवध यज्ञ लिखे हुए हैं उनका निषेध महाभारत में इस प्रकार है "धूर्तैंप्रकल्पितंह्येतन्नैतद्वेदेषुकल्पितम्" अर्थ–यह पशुयज्ञ सब धूर्त्तों ने कल्पना किये हैं वेदों में नहीं। उक्त भाव श्रीस्वामीजीने अपने (२८) मन्तव्य में प्रकाशित कर दिया जिससे भविष्यत् में कोटी २ प्राणियों के प्राण बचेंगे॥

(२९) इसमें यह लिखा है कि वेद विद्या विहीन दुष्टाचारी मनुष्यों का नाम दस्यु है, और आर्य्य वह हैं जो श्रेष्ठ हैं।

(३०) में आर्य्यवर्त्त देश की सीमा का वर्णन है इसमें कोई पूर्वोत्तर पक्षकी आवश्यकता नहीं। एवं (३०) से (४६) तक सब स्पष्ट मन्तव्य हैं जिनमें व्याख्या की आवश्यकता नहीं।

(४७) इस मन्तव्य में नियोग का वर्णन है "जो विवाह के पश्चात् पति के मरजाने आदि वियोग में हुआ करता है"। आदि शब्द के अर्थ यहां देशत्याग आश्रमत्याग के हैं, "अथवा नपुंसकत्वादि स्थिर रोगों में स्त्री वा आप्तकाल में पुरुष स्ववर्ण वा अपने से उत्तम वर्णस्थ स्त्री वा पुरुष के साथ सन्तानोत्पत्ति करना" नपुंसकत्वादि रोगों से तात्पर्य्य उन रोगों का है जिनसे मनुष्य स्पर्श के योग्य नहीं रहता।

इस विषय में वहुत लोग विप्रतिपन्न हैं कोई इसको व्यभिचार बतलाता है, कोई इसको अनाचार बतलाता है, कोई इसको देश काल के अनुकूल अकर्तव्य बतलाता है, कोई इसको सामाजिक मन्तव्य बतलाता है एवं विध अनेक संशयों को दूर करने के लिये हम इसकी सविस्तार व्याख्या करते हैं!

पहले उन लोगों का उत्तर देते हैं जो अपने आपको वैदिक कहकर हमसे विरोध करते हैं।

कुहस्विद्दोषाकुहवस्तोरश्विनाकुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः। कोवांशयुत्राविधवेवदेवरं मर्य्यंनयोषाकृणुतेसधस्थआ ॥ ऋ० १०।४०।२

इस मंत्रमें (कोवांशयुत्राविधवेव देवरं) यह वाक्य सनातन धर्मियों को नियोग से नहीं निकलने देता। सायणाचार्य्य इसके यह अर्थ करते हैं कि "शयुत्राशयनेविधवेव व यथा मृतभर्तृकानारीदेवरंभर्तृभ्रातरंअभिमुखीकरोति" अर्थ–शयन में विधवा नाम मरे हुए भर्ता वाली स्त्री जिस प्रकार देवर को वर लेती है, इस प्रकार हे अश्विनी कुमारो तुमको किसने वर लिया। इस कथन से सायणाचार्य्य ने यह स्पष्ट कर दिया कि विधवा स्त्री देवर के साथ नियोग कर सक्ती है, पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र इसके यह अर्थ करते हैं कि "हे अश्विनौ तुम दोनों रात्रि में कहां थे और (वस्तोः) नाम दिन में कहां थे जिससे न रात्रि में न दिन में तुम्हारा दर्शन हमें मिला, स्नान भोजनादि की प्राप्ति कहां की कहां निवास किया सर्वथा तुम्हारी आगमन प्रकृति नहीं जानी जाती (कोवांशयुत्रा विधवा इव देवरम्)शयन में देवरको विधवावत् कौन यजमान तुमको परिचरण करता हुआ क्योंकि परकीय पति होने से दुराराध्य देवर को मृतभर्तृका यत्न से आराधन करती है (इस कर्म को निन्दितजान छिपकर बड़े यत्न से उससे मिलती है) तद्वत् तुमको किस यजमान ने आराधान किया यथा एकान्तस्थान

में मृतभर्तृका नारी मनुष्यको अपने शरीर के साथ संबन्धकर परिचरण करती है तद्वत् तुम्हारी किसने सेवा की जो हमें दर्शन नहीं प्राप्त हुए, इस मंत्र में अल्प देवर कर महान्त अश्विनी कुमार उपमेय होते हैं और विधवा शब्द से यजमान उपमेय होता है द० ति० भा० पृ० १४६ समीक्षा–पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने तो बिना ननुनच से इस बात को मान लिया कि विधवा नाम उसी का है जिस का पति मर चुका हो, और जो अश्विनी कुमारों को देवरस्थानी बनाया और यजमान को विधवास्थानी, इस उपमान उपमेय पर तो पं० जी ने अपने पाण्डित्य की समाप्ति करदी, धन्य हैं ऐसे देव और उपासकों को। अस्तु विवक्षितांश यहां यह है कि सायणाचार्य्य और पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने विधवा स्त्री और देवर के सम्बन्ध का दृष्टान्त इस मंत्र में स्वीकार किया, पर पं० भीमसेन शर्म्मा जिनको अब नई ही सनातनधर्म की हवा लगी है उन्होंने सनातन सायण की शरण छोड़कर यह अर्थ किये हैं कि जिस स्त्री का वाग् दान के अनन्तर पति मर गया हो उस स्त्री का विधवा शब्द से यहां ग्रहण है, इस बात को पुराने सनातनधर्मी सभी भूल गए थे जिसको अब पण्डित जी ने निकाला,

पं० जी कहते हैं कि कन्या भी विधवा होती है, सायण और पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने तो "विधवेवदेवरम्" इस वाक्य में विधवा नारी के अर्थ किये हैं और पं० भीमसेन "यस्याम्रियेतकन्यायावाचासत्येकृतेपतिः" इस श्लोक का प्रमाण देकर यह सिद्ध करते हैं कि जिस कन्या का वाग् दान करने के अनन्तर

पति मर जाता है वह भी विधवा कहलाती है। यह भीमसेनी परिभाषा अब निकली है कि कन्यात्व और वैधव्य यह दोनों धर्म एक धर्म्मी में रह सक्ते हैं पर यह कठिनाई पड़ेगी कि जिन मनु के श्लोकों में इनके मतानुकूल विधवा विवाह का निषेध लिखा है उनके अर्थ भीमसेनी परिभाषा में कन्या विवाह निषेध के होजावेंगे।

"विधवेवदेवरम्" इस वाक्य के कारण उक्त मंत्र में सनातन धर्मियों को बड़ी फेर फार करनी पड़ती है, अश्विनी कुमारों को देवर बनाना पड़ता है, विचारे यजमानों को विधवा स्त्री बनाना पड़ता है। मंत्र के अर्थ सीधे यह हैं कि (अश्विनौ) हे विवाहित स्त्री पुरुषो तुमने (दोषा) रात्रि को कहां निवास किया और (वस्तोः) नाम दिन में कहां निवास किया, (कुहाऽभितीत्वम्) नाम कहां तुमने खान पान किया और (कोवांशयुत्राविधवेवदेवरम्) नाम विधवा और देवर के समान तुम्हारा शयन स्थान कौन है, अर्थात जैसे विधवा देवर की सहधर्मिणी होती है इस लिये उनका शयन स्थान और खानपानादि व्यवहार पृथक् नहीं होता इस प्रकार विवाह सम्बन्ध से तुम्हारा भी पति पत्नि भाव स्थिर हो गया, इस लिये तुम्हें भी पृथक् नहीं रहना चाहिये, इस भाव को दृढ़ करने के लिये प्रश्नकी रीतिसे रात्रि दिन का निवास और खानपानादि व्यवहार पूछा गया है, जैसे कि विवाह के मंत्रों में प्रतिज्ञाएं हैं, उन प्रतिज्ञाओं के दृढ़तार्थ यह मंत्र है। जो इस में वादी यह प्रश्न करते हैं कि रात्रि दिन का निवास स्थान किसी स्त्री से पूछना सभ्यता की बात नहीं? इसका उत्तर यह है कि जैसे विवाह की

प्रतिज्ञाएं ईश्वर गृहस्थ सम्बन्ध की दृढ़ता के अभिप्राय से करवाता है उसमें कोई असभ्यता नहीं समझी जाती, इस प्रकार यहां भी असभ्यता का दोष नहीं, प्रत्युत असभ्यता तो यह है कि जो विचारे अश्विनी कुमार देवताओं को विधवा रूपी यजमानों के शयन स्थान में सुलाने की चेष्टा की गई है। और जैसे इसी मंत्र में "मर्यंनयोषाकृणुतेसधस्थआ" इस वाक्य में मर्य नाम मनुष्य को और योषा नाम उसकी स्त्री जिस प्रकार शयन में सेवन करती है, अर्थात् जिस प्रकार स्वपत्नी अपने पति को सेवन करती है इस प्रकार तुम भी इस गृहस्थ धर्म का पालन करो। हमारे सिद्धान्त पर जो यह प्रश्न किया गया है कि यह कौन पूछता है कि तुम दोनों दिन रात को कहां रहे? इसका उत्तर यह है कि जो "मर्यंनयोषाकृणुते" इस वाक्य को कहता है वही पूछता है अर्थात् उपदेश रूप से यह ईश्वर की उक्ति है इस लिये कोई दोष नहीं। दूसरा मंत्र यह है कि जिसमें आधुनिक सनातनधर्मी नियोग से भयभीत होकर भिन्न २ मति वाले हो जाते हैं॥

उदीर्ष्वनार्यभिजीवलोकंगतासुमेतमुपशेषएहि। हस्तग्राभस्यदिधिषोस्त वेदं पत्युर्जनित्वमभिसंबभूथ॥ ऋ० १०। १८। ८

इस मंत्रमें "दिधिषु" शब्द आया है जिसके अर्थ दूसरे पति के हैं इस भयसे पं० भीमसेन ने यह लिखा है कि "वेदे रूढार्थो न कस्यापि विदुषोऽभिमतोऽपितुयौगिकार्थः सर्वमीमां

सादिशास्त्रकारानुमतः" ब्रा० स० १-११-४६७ अर्थ-वेद में (रूढ़ार्थः) नाम किसी वस्तु विशेष का ग्रहण संज्ञामात्र से किसी विद्वान् को अभिमत नहीं किन्तु (यौगिकार्थः) नाम जो शब्द के अवयवों से अर्थ कियाजाता है वह सब मीमांसादि शास्त्रकारों को अभिमत है अर्थात् यहां दिधिषु शब्द से दूसरा पति नहीं लियाजाता किन्तु धारक व पोषक लियाजाता है, उक्त लेखसे पं० भीमसेन ने अपनी सम्पूर्ण सनातन पुज़ीशन पर पोचा फेर दिया, क्योंकि यौगिकार्थ करने से न आपके ब्रह्मा, विष्णु, महेश, यह देव त्रयी रहेगी और न वरुणादि देव विशेष रहेंगे न यमपुरी का राजा यम रहेगा, फिर तो वरुणादि शब्द अपने अवयवार्थों से वरुणादि देवताओं से दूर चले जावेंगे, इस प्रकार पं० भीमसेन के माने हुए कर्मकाण्ड का गन्धमात्र भी न रहेगा। पर क्या करें अर्थी दोषं न पश्यति, इस न्यायानुकूल पं० जी को वेदों के सब अर्थ यौगिक मानने में स्वमत का दोष दृष्टि नहीं पड़ा, और अभ्युपगम विरोध की पं० जी ने यहां किञ्चिन्मात्र भी अपेक्षा नहीं की, अर्थात् यह नहीं सोचा कि अमरकोष में दिधिषु के अर्थ नियुक्त पति के हैं, फिर हम स्वमत विरुद्धार्थ क्यों करते हैं। अमरकोष द्वितायकाण्ड मनुष्यवर्ग श्लो० २३ में दिधिषु पति का वर्णन है।

पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने यहां स्वामीजी के अर्थपर यह आक्षेप किया है कि जब पति मरा पड़ा है तब यह उपदेश उसको कैसे हो सक्ता है कि तू इसको छोड़कर दिधिषु पति के सन्मुख हो, मिश्रजी के विचार में वेद स्थायी दृढ़ उपदेशों को लौकिक लज्जा

और भयसे छोड़देता है यदि ऐसाही होता तो 'विधवेवदेवरम्' यह मंत्रमें दृष्टान्त क्यों दिया जाता।

और "उदीर्ष्वनार्यभिजीवलोकं" इस वाक्यमें जीवलोकको लक्ष्य रखकर यह क्यों कथन कियाजाता कि तूं यहां से जीवलोक का ध्यान धरके उठ, क्योंकि यह कथन भी तो आपके विचार में प्रेम को कम करता है, आपका सनातन प्रेम तो तभी स्थिर रहता है कि "इयंनारीपतिलोकंवृणाना" अथर्व० १८।३।१ इस मंत्रके सायण भाष्यानुकूल उस विचारीका मृत पति के साथ अग्निमें प्रवेश कर दियाजाय।

सायणाचार्य्य इस मंत्रके भाष्यमें लिखते हैं कि प्राचीनधर्म को पालनकरती हुई स्त्री मृत पति के साथ मरण को प्राप्त होती है। इस अर्थ को स्मृति से इस प्रकार दृढ़ करते हैं कि:—

भर्तारम् उद्धरेन्नारी प्रविष्टा सहपावकम्।
व्यालग्राही यथा सर्पं बलाद् उद्धर्त्ते बिलात्॥

अर्थ—मृत भर्त्ता के साथ चितामें प्रविष्ट हुई नारी उसके उद्धार करने की इच्छा करे, जिस प्रकार सांपके पकड़ने वाला सांप को बिलसे निकाल लेता है इस प्रकार वह बलसे उद्धार करे।

इत्यादि प्रेम पालन तो आपके मतमें तभी हो सक्ता है जब इसका अनुष्ठान किया जाता सो अब आपका यह वैदिक अनुष्ठान राजधर्म से विरुद्ध है इसलिये प्रेम पालन तो मनोरथ मात्र है फिर जब उक्त प्रेम में ऐसी लाचारी है तो स्वामीजी का यह कथन कि तू इस

मृत पति को छोड़ कर दिधिषु पति के अभिमुख हो क्यों बुरा लगता है ।

इस मंत्रके सत्यार्थ यह हैं कि हे नारी (जीवलोकं) नाम जीवन लोक का विचार के (उदीर्ष्व) नाम इस पति के पाससे उठखड़ी हो जो यह प्राण रहित मृत पड़ा हुआ है (हस्तग्राभस्यदिधिषो) नाम यह नियुक्तपति जो तुम्हारा हस्त ग्रहण करने वाला है इस पति के (जनित्व) नाम स्त्रीत्वभाव को (संवभूथ) नाम सन्मुख हो। अर्थात् मृत पति के अनन्तर अपने जीवन का विचार करके दिधिषु पति की शरण को प्राप्त हो ।

जो पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र इसमें यह आशङ्का करते हैं कि श्मशान भूमि में यह मंत्र पढ़ा जाता है उस समय नियोग का कौनसा अवसर है ? इसका उत्तर यह है कि यह मंत्र सिद्ध वस्तु प्रतिपादकत्वेन नियोग की विधिका बोधक है फिर इसपर यह प्रश्न नहीं हो सक्ता कि यह शोक समयमें नियोगका विधान करता है ॥

और सनातनधर्म के मन्तव्यानुकूल भी उक्त प्रश्न कुछ अस्तित्व नहीं रखता क्योंकि उन्होंने इस मंत्र का अन्त्येष्टि कर्म में विनियोग किया है और यह उनके मत में नियम नहीं कि जो मंत्र जिस कर्म में विनियुक्त हो अर्थ भी वही रखता हो, जैसेकि "इदं विष्णुर्विचक्रमे" यह मंत्र शकट मार्गस्थ सुवर्ण पर आहुति देने में विनियुक्त है और अर्थ अवतार के देता है एवं "उदीर्ष्व नारी" यह मंत्र अन्त्येष्टि कर्म में विनियोग वाला होकर अर्थ नियोग के दे तो क्या दोष है ? उक्त प्रकार से नियोग विषय में दो पुष्ट प्रमाण दिये

गए (१) "विधवेवदेवरम्" (२) "दिधिषुपतिः"
(३) "यापूर्वंपतिंवित्त्वाऽथाऽन्यंविन्दतेपरम्" अथर्व० १।५।२७॥

(४) "समानलोकोभवतिपुनर्भुवीपरः पतिः" अथर्व० १।५।२८॥

अर्थ–(३) जो पूर्व पति के वियुक्त होने के अनन्तर अन्यपति को लाभ करती है॥

अर्थ–(४) (पुनर्भू) स्त्री का दूसरा पति (समानलोकः) नाम समान गुणों वाला (भवति) होता है॥

उक्त मंत्रों की प्रतीकों को वैदिक नियोग के खण्डन करने वाले आधुनिक सनातनियों का विधाता भी अन्यार्थ वा उपचारार्थ नहीं कह सक्ता। फिर कैसे कहा जाता है कि वैदिक नियोग में कोई वेद मंत्र प्रमाण नहीं॥

इयंनारीपतिलोकंवृणानानिपद्यत उपत्वामर्त्यप्रेतम्। धर्मंपुराणमनुपालयन्ती तस्यैप्रजां द्रविणां चेहधेहि अथर्व० १८।३।१॥

अर्थ–मृत पति को छोड़कर पतिलोक की इच्छा वाली जो यह स्त्री है हे परमात्मन् इसको सन्तति और धन दो। इस मंत्र में सन्तति की प्रार्थना इस बात को सिद्ध करती है कि वह सन्तति नियुक्त पति से ही अभिप्रेत है न कि मृत पति से, मृत पति में सन्तति की योग्यता नहीं॥

सायण इससे सती की रसम निकालते हैं, और पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र इसके यह अर्थ करते हैं कि मृत पति का धन और प्रजा इसकी है, पर यह नहीं सोचते कि यहां तो भविष्यधन और भविष्य प्रजा के लिये प्रार्थना है फिर कैसे कहा जा सक्ता है कि प्रथम पति की सन्तान और धन इसको दो। क्या सनातनधर्म्म के दायभागानुकूल प्रथम पति की सन्तति इससे कोई छीनता था जो इस मंत्र ने अपूर्व विधान किया। पं० भीमसेन इसके यह अर्थ करते हैं कि जो इसके पास सन्तति और धन है वह नाश न हो किन्तु स्थिर रहे॥

और सायण यह अर्थ करते हैं कि इस लोक और परलोक के लिये इसको सन्तति और धन दो। सचाई यह है कि "तस्यै प्रजांद्रविणञ्चधेहि" इसके लिये प्रजा और धन धारण कराओ अर्थात् दो। इस वाक्यार्थ में सब सनातनधर्मी खण्ड २ हो जाते हैं कोई परलोक के लिये धन की प्रार्थना मानता है, कोई पहले पति के धन और सन्तति मिलने की प्रार्थना करता है, कोई धन सन्तति को स्थिर रखने की प्रार्थना करता है। पर उनके मतानुकूल इस अनिष्ट चिन्तन को कोई स्मृति पथ में नहीं लाता कि विधवा के लिये सन्तति की प्रार्थना उनके मत में ऐसी ही अनिष्ट है जैसे कोई कन्या को कहे कि पुत्रवतीभव। फिर कैसे कहा जाता है कि इस मंत्र की सङ्गति स्वामी जीके मत में नहीं लगती। स्वामी जीके मत में तो उक्त मंत्र नियोग को विधान करता है और नियोगाभिप्राय से विधवा के लिये भी सन्तति की प्रार्थना की जाती है। ननु इस मंत्र में "धर्मंपुराणमनुपालयन्ती"

यह लिखा है कि जो प्राचीन धर्म को पालन करती है। धर्म का पालन तो सती होने से अथवा पति मरणानन्तर यावदायुषं तुलसी की माला पहनकर रहना अन्यपति की इच्छा न करना यही धर्म का पालन हो सक्ता है फिर इस मंत्र से नियोग के अर्थ कैसे निकलते हैं ?

उत्तर—पहली बात तो यह है कि 'धर्मंपुराणमनुपालयन्ती' यह कहकर फिर इसके लिये सन्तान की प्रार्थना की गई है इससे पाया जाता है कि यहां धर्म का पालन नियोग धर्म के अभिप्राय से आया है ॥

दूसरी बात यह है कि यदि यह शङ्का की जाय कि धर्म का पालन तो पतिव्रतधर्म कहलाता है नियोग कौन धर्म हुआ ? इसका उत्तर यह है, म० भा० आ० प० अ० १०३ श्लो० १० में यह लिखा है कि :—

तयोरुतपादयापत्यं सन्तानाय कुलस्यनः
मन्नियोगान्महावाहो धर्मंकर्त्तुमिहार्हसि ॥

अर्थ—इनमें नियोग से सन्तति उत्पन्न करो, इस धर्म करने के लिये तुम योग्य हो ॥

इससे आगे श्लोक १३ में भीष्मजीने सत्यवती से यह कहा है—

असंशयं परोधर्मस्त्वया मातर उदाहृतः ।

अर्थ—इसमें संदेह नहीं कि हे मातः तुमने यह नियोग रूपी परंधर्म मुझको कहा । इत्यादि

महाभारतमें तो अध्यायोंके अध्याय नियोगको धर्म कहते हैं,

फिर तुम इसको अधर्म कैसे कह सक्ते हो और इन वाक्यों में ननु नच कैसे कर सक्ते हो, क्योंकि यह वाक्य तुम्हारे मतमें साक्षात् व्यास भगवान् के मुख से निकले हैं जो चौवीस अवतारों में से एक जीता जागता अवतार है । यहां यह भी याद रहे कि नियोगका वियोग करनेके लिये महाभारतादि पुस्तकों से सनातनभाइयों को पहले वियुक्त होना पड़ेगा, पर यह वियोग दुर्घट काम ही नहीं अपितु असम्भव है ॥

अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधिशिवापशुभ्यःसुयमासुवर्चाः । प्रजावती वीर सूर्देवृकमास्यो नेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य ॥ अ० १४ । २ । १८

इस मंत्र में पहले तो पं० ज्वालाप्रसादमिश्र ने स्वामीजीकी यह ग़लती निकाली है कि स्वामीजीने ह्रस्व अकार के स्थान में दीर्घ आकार लिखा है, इसका उत्तर तो मिश्रजीको मिलजाता यदि मिश्र स्वामीजीकी ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका देखते, वहां यथाव स्थित ह्रस्व अकार है, जब प्रथम पुस्तक में यह पाठ लिखा गया तो फिर सत्यार्थप्रकाशमें स्वामीजीका दोष क्या । पर इनको इस बात से क्या इन्होंने तो छिद्रान्वेषी होकर वैदिकधर्म के एकत्व को छिन्न भिन्न करना है ॥

हमारे सनातनभाइयोंको यहां यहभी स्मर्ण रहे कि हम पौराणिक व्यासके समान स्वामीजीको चौबीस अवतारों में सम्मिलित करके ऐसा सर्वज्ञ नहीं मानते कि वह मात्राकीभी अशुद्धि न करते हों । इस मंत्र के वादीकृत अर्थों में और स्वामीजीके अर्थों में और

कोई भेद नहीं केवल "देवृकामा" शब्द में विवाद है सो इस बात से निवृत्त होजाता है कि जब निरुक्तकार देवर को दूसरा वर मानते हैं तो फिर नियोगाभिप्राय से यदि कामना लीजाय तो क्या दोष है?

और जो पं० ज्वालाप्रसादमिश्रने इस मंत्र के अर्थ में "भ्रातृकामा" शब्द लिखकर "देवृकामा" के साथ मेल किया है यह सनातनधर्म के अर्थों से अत्यन्त चिन्तनीय है क्योंकि जिसमें यमयमीकी कथा भाई वहनकी "भ्रातृकामा" के अर्थ भी "देवृकामा" के समान ही देती है तो फिर अत्यन्न भेद प्रदर्शनार्थ उक्त दृष्टान्त क्यों? यदि यह कहा जाय कि उक्त यमयमीकी कथा भी भाई वहनके संयोग प्रतिषेध के लिये है तो फिर इस मंत्रार्थका क्या उत्तर?

अघातागच्छानुचरायुगानियत्रजामयः कृणववन्न जामि। उपबर्बृहिवृषभायबाहुमन्यमिच्छस्वसुभगेपतिंमत्॥ ऋ० १०।१।१०।१०

सायणाचार्य्य के अनुयायी इसके यह अर्थ करते हैं कि यमकी वहन जो यमी थी उसनेजब यमसे पतिभाव की प्रार्थनाकी तो यम ने यह उत्तर दिया कि ऐसे युग आयेंगे जिनमें (जामयः) नाम भगनियें (अजामि) नाम और स्त्रियों का काम करेंगी, अर्थात् स्वस्त्रीवत् व्यहार करेंगी। इसलिये हे सुभगे इस समय तू मेरे को अन्यपति की इच्छाकर। पं० ज्वालाप्रसादमिश्र भी इसके यही अर्थ करते हैं॥

यदि आजकल विनयपूर्वक किसी सरल सनातनधर्मी पण्डित से पूछाजाय कि भगवन् वह उत्तर युग आगए हैं अब यमके वचन का अनुष्ठान क्यों नहीं कियाजाता, तो वह उत्तर यही देता है कि हिन्दुओं से भिन्न इतर जातियों में ऐसा होता है। फिर प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि वैदिक अनुष्ठान तो फिर इतर जातियों में ही हुआ नकि वेदाभिमानी पौराणिकों में ॥

ननु-तुम इस पर क्या आक्षेप करते हो तुम्हारे मतमें भी तो यह दोष समान ही है, क्योंकि तुम भी तो इस कथा के अर्थ भाई बहन से भिन्न कुछ नहीं कर सक्ते। प्रत्युत "अन्यमिच्छस्वसुभगे पतिंमत्" इतनी प्रतीक लिखकर तुम्हारे स्वामीजीने इसके अर्थ और भी बुरे कर दिये कि असमर्थपुरुष अपनी स्त्री से यह कहे कि तू मेरे से भिन्न किसी अन्यपतिकी इच्छाकर, इसमें तो एक नहीं दो दोष आए-(१) बहन का भाई से पतिभाव की प्रार्थना करनेका (२) प्रकरण विरुद्ध नियोग के अर्थ करने का ॥

उत्तर-पहली बात जो यह कही गई है कि तुम भी यम यमी की कथा के दोष से दूर नहीं हो सक्ते? इसका उत्तर यह है कि यह यम यमी सूक्त भाई बहन के अभिप्राय से नहीं लिखा गया किन्तु यमी पुरुष की यमों में दृढ़ता बोधन करने के अभिप्राय से लिखा गया है। जो स्त्री उक्त पुरुष को यमों से गिराना चाहती थी उसका नाम यहां यमी है। "यमस्यस्त्रीयमी" व्याकरण से यह अर्थ लाभ होता है। यहां "ङीसप्रत्यय है" व्याकरण से भाई बहन के अर्थ यम यमी शब्द से किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होते। यम से पतिभाव की प्रार्थना करने के अभिप्राय से उसको

यमी कथन किया गया है अर्थात् "यमस्यस्त्रीयमी" इस लिये इसको यमी लिखा ॥

यम शब्द के अर्थ यहां "यमोविद्यतेयस्यसयमः अर्शादाच से यह अर्थ हो जाते हैं कि जो यमों वाला हो उसकोयम कहते हैं" यम यह हैं:—

अहिंसा सत्यस्तेयब्रह्मचर्य्यापरिग्रहायमा । यो० स० । पा० । सू० । ३० ॥

अहिंसा-प्राणियों का हनन न करना ॥

सत्य-सत्यवाणीवाला होना ।

स्तेय-चोरी न करना ।

ब्रह्मचर्य्य-स्त्री स्पर्श न करना ।

अपरिग्रह-आवश्यकता से अधिक वस्तु पास न रखना । उक्त पांच यम हैं यह जिस में घटते हो उसको यम कहते हैं, ऐसे दृढ़ व्रतधारी पुरुष का इस सूक्त में वर्णन है ॥

इस भाव को स्पष्ट करने के लिये हम यहां सम्पूर्ण सूक्त के अर्थ लिखते हैं ।

ओचित्सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरूचिदर्णवं जगन्वान् । पितुर्नपातमादधीत वेधा अधिक्षमि प्रतरं दीध्यानः ॥ १ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त दृढ़ व्रती यम को प्रलोभन करने वाली यमी स्त्री (तिरःपुरूचिदर्णवं जगन्वान्) जो एक बड़ेभारी निर्जन देश

समुद्र के किसी एक द्वीपको प्राप्तथी (चित्सखायं) उस पूज्य यम के सन्मुख (सख्यावृत्तां) नाम मैत्रीवृत्ति के भाव से जो स्थिरहुई, और जाकर कहा कि परमेश्वर ने हम दोनों को सुन्दर पुत्रकी सन्तानोत्पत्ति के लिये ध्यान किया है, अर्थात् मुझे और तुम्हें सन्तानोत्पत्ति के लिये बनाया है ।

नते सखा सख्यं वष्ट्येतत्सलक्ष्मा यद्विषुरूपा भवाति । महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्त्तार उर्विया परिख्यन् ॥ २ ॥

अर्थ—हे यमी (तेसखा) नाम ब्रह्मचर्य्य अवस्था में तुम्हारे समान धर्मवाला होने से तुम्हारा सखा मैं तुम्हारे साथ (सख्य) नाम सहवासरूपी मैत्रीभाव की (वष्टि) नाम कामना (न) नाम नहीं, अर्थात् मैं तुम्हारी पत्नीभाव से कामना नहीं करसकता, क्यों कि (सलक्ष्मा) नाम ब्रह्मचर्य्य के चिन्होंवाली होने से (यद्विश्वरूपा) नाम विषमरूपवाली (भवाति) है । यह लेट लकार का प्रयोग है अर्थात् मैं (यम) नाम ब्रह्मचर्य्य प्रधान पांचयमों से सम्पन्न हूं और तू ब्रह्मचारिणी है इस लिये मैं तुम्हें स्वीकार नहीं करसकता । ऐसा असुर करसक्ते हैं कि जो (उर्विया) नाम निन्दित से निन्दित स्त्रियों से रमण करना (परिख्यन्) नाम कथन करते हैं । सार यह निकला कि यम नियम सम्पन्न ब्रह्मचारी और यती लोकों का यह काम नहीं ।

उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित्त्यजसं मर्त्यस्य । निते मनो मनसि धायस्मे जन्युः पतिः

तन्व माविविश्याः ॥ ३ ॥

अर्थ—यमी कहती है कि (अमृतास) नाम देवलोक (ते) तुम्हारे अर्थात् तुम्हारे देवलोगभी (एतत्) नाम इस कामकी (उशन्ति) इच्छा करते हैं, (एकस्यचित्मर्त्यस्य) नाम मरण धर्म्मा जो यह पुरुष है उसके लिये (त्यजसं) नाम यह त्याग इष्ट नहीं, इस लिये तुम अपना मन मेरे मनमें धारण करो, (जन्युः) नाम प्रजा उत्पन्न करने वाला जो पति उसभाव को ग्रहण करके तुम (तन्वं) नाम मेरे शरीरको (आविविश्याः) नाम संभोगादि भावों से स्वीकार करो।

सायणाचार्य्य ने इसके यह अर्थ किये हैं कि यमी यह कहती है कि हे यम प्रजापति आदिकों ने भी लड़की और भगिनी आदिकों को भी अगम्य नहीं समझा फिर तुम क्यों मुझे अगम्या समझते हो। ब्रह्मा और ब्रह्मा की लड़की की पौराणिक कहानी का इस मंत्र में गंधमात्र भी नहीं पाया जाता, फिर न जाने उस समय के भाष्यकारों ने ऐसे निन्दित अर्थों को क्यों स्वीकार किया।

नयत्पुराचकृमाकद्धनूनमृतावदन्तोअनृतंरपेम । गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सानो नाभिः परमं जामितन्नौ ॥ ४ ॥

अर्थ-(यत्) जो (पुरा) पूर्वकाल में (नचकृमा) नाम हमने पूर्वकाल में नहीं किया (कद्ध) कत् ह नाम कदापि (नूनं) निश्चय करके (ऋतावदन्तो) नाम सत्य कथन करने वाले हम (अनृतंरपेम) नाम झूठ नहीं कहते अर्थात् यह कदापि नहीं हुआ कि ब्रह्मचारी

और यति ब्रह्मचर्य्य ब्रत भङ्ग करके संसारी हो जायं ॥

(गन्धर्वः) नाम परमात्मा "गाम्धत्तीति गन्धर्वः, उणादि प्रकृति प्रत्यय से उक्तार्थ की सिद्धि हो सक्ती है अथवा गवांरश्मीनां धारयिता गन्धर्वः" एवं सूर्य्य का नाम गन्धर्व है, (अप्सु) नाम जलों में जो गन्धर्व है और (अप्याच योषा) जलों में होने वाली उसकी योषा नाम स्त्री (सानो नाभिः) वह हमारा (परमं) परम उत्पत्ति स्थान है । हे (जामि) कुलस्त्री (तत्) इस लिये (नौ) हम दोनों का स्त्री पुरुष भाव रूपी सम्बन्ध नहीं हो सक्ता क्योंकि (गन्धर्वः) नाम परमात्मा रूपी पिता से (अप्या) नाम परमात्मा रूपी माता से हमारी उत्पत्ति है अर्थात् ब्रह्मचर्य्य ब्रत धाहण करने के समय जो हम दोनों में द्विजन्मा होने का धर्म आया है उसका परमात्मा ही पिता और परमात्मा ही माता गिना जाता है । इस लिये उक्त ब्रह्म ब्रतधारी हम दोनों का भ्राता भगिनी भावका सम्बन्ध है, इस लिये हे यमी तू मेरे लिये अगम्या है, इस मंत्र से यह भी सूचित कर दिया कि जिस प्रकार भाई के लिये बहन अगम्या है इस प्रकार ब्रह्मचारी पुरुष के लिये स्त्री मात्र अगम्या है ॥

सायणादि सनातनी लोग जो इस सूक्त में यम यमी के अर्थ भाई बहन के करते हैं तो वह गन्धर्व पिता और अप्या माता किसको बनाते हैं क्योंकि किसी भाई बहन का गन्धर्व पिता और अप्या माता नहीं यदि यह कहा जाय कि यह अलङ्कार से कथन किया गया है तो फिर इसका क्या प्रमाण है कि इस सूक्त में भाई बहन की कथा है ॥

गर्भेनुनौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः। न किरस्य प्रमिनन्ति व्रतानि वेदना वस्य पृथिवी उतद्यौः ॥ ५ ॥

अर्थ–यमी कहती है कि (त्वष्टा) नाम परमात्मा (गर्भे) नाम गर्भ में (नौजनिता) हम दोनों को जो उत्पन्न करने वाला है उसने हम को गर्भ में स्त्री पुरुष बनाया है उस परमात्मा के कर्मों को (प्रमिनन्ति) नाम हनन करना (नकि) नहीं अर्थात् उसके कर्मों का कोई नाश नहीं कर सक्ता, इस प्रकार हमारे स्त्री पुरुष भाव को पृथिवी द्यौ लोक जानते हैं ॥

को अस्य वेदप्रथमस्याह्नः कईंददर्शकइह प्रवोचत्। बृहन् मित्रस्य वरुणस्य धामकदुब्रव आह नो वीच्यान्हनॄ ॥ ६ ॥

अर्थ–(को अस्यवेद) नाम प्रथम दिन का हाल कौन जानता है (कई ददर्श) नाम किसने देखा है (कइह प्रवोचत) नाम किसने कथन किया है अर्थात् कोई भी नहीं जान सक्ता, इस लिये हे यम फिर तुम क्या कहते हो कि पहले किसी ने ऐसा काम नहीं किया।

यमस्य मा यम्यं काम आगन्त्समानेयोनौसहशेय्याय। जायेवपत्येतन्वं रिरिच्यां विचिद् वृहेव रथ्येव चक्रा ॥ ७ ॥

अर्थ–यमी कहती है कि हे यम तुम्हारी कामभिलाषा मुझ पर

हो (समानेयोनौ सहशेय्याय) नाम एक स्थान में एक शय्या पर सोने के लिये, फिर पूर्ण मनोरथ वाली मैं (जायेवपत्ये) नाम जैसे स्त्री अपने पति के लिये प्रीति से अपने शरीर को प्रकाश कर देती है अथवा रथ के अवयव भूत चक्रों पर जैसे रथ अपने आप को रख देता है इस प्रकार मैं भी अपने आपको आपके अर्पण करूंगी।

न तिष्ठन्ति न निमिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति। अन्येन मदाहनो याहि तूयं तेन विवृह रथ्येव चक्रा ॥ ८ ॥

अर्थ—फिर यम बोला कि सूर्य्य चन्द्रमादि जो देवताओं के दूत विचरते हैं वह सब जानते हैं इस लिये मैं इस अनुचित कर्म को नहीं करता।

छटे मंत्र में जो यह था "को अस्य वेद" यह उसका उत्तर है इस आठवें मंत्र में यम का आशय यह है कि यद्यपि हमको कोई मनुष्यादि प्राणी नहीं देखता तथापि सूर्य्य चन्द्रमादिकों का नियन्ता सर्वान्तरयामी सर्वकाल में देखता है, इस लिये ब्रह्मचर्य्य व्रत भङ्गरूप अनुचित कर्म करना मैं उचित नहीं समझता।

रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत्सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात्। दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमीर्यमस्य विभृयादजामि ॥ ९ ॥

अर्थ—इस मंत्र में ईश्वर यह कथन करता है कि (रात्रीभिः) और (अहोभिः) नाम दिन रात से (अस्मै) इस यम के लिये सब

यजमान यज्ञ का भाग (दशस्येत्) देवें, और (सूर्य्यस्य चक्षुः) नाम सूर्य्य सम्बन्धि चक्षु (मुहुः) बारंबार (उन्मिमीयात्) नाम उदय हो अर्थात् यम के चक्षु इन्द्रिय बारंवार दिव्य दृष्टि को प्राप्त हों, और यह यमी यम के अजामि नाम भ्रातृ भाव को धारण करे अर्थात् यद्यपि वास्तव में यह यम की भगिनी नहीं तथापि यमने जो इसको भगिनी कह दिया है इस लिये यह भगिनी भाव को दृढ़ रखे ॥

यह उक्त मंत्र न यम की ओर से है और न यमी की ओर से किन्तु मध्यस्थ की ओर से पाया जाता है इस लिये इस मंत्र में ईश्वर का उपदेश सिद्ध होता है और प्रयोजन इसका यह है कि जब अहिंसा, सत्य स्तेय, ब्रह्मचर्य्य, अपरिग्रह इन पांच नियमों के सेवन करने वाले यम की दृढ़ता दिखलाने के अभिप्राय से यह यम यमी की कथा है। इस लिये ईश्वर ने यह कथन किया कि सब यजमान उक्त दृढ़ व्रतधारी यम को यज्ञोंका फलदें अर्थात् उसको पूज्य समझें ॥

सत्य भी यही है कि इस व्रत के तुल्य अन्य कोई व्रत नहीं है और इसके भङ्ग के बराबर और कोई दुर्गति नहीं है। इस आशय को प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में एक कवि ने इस प्रकार ग्रंथ कियाहै

सवैया

डार पटम्बर अम्बर डार सुदीर्घ जा बनबास करें हैं।
साहिं अरण्य करें तपसा अरु भोग महानल पार परें हैं।
धन्य यमी जिनके यम से डर कांपत भूप न पांव कुएं हैं।
नारी सुषुम्नन घेर विषय पड़ फेरि रसातल मांहिगएहैं॥

इस भाव को यह यम यमी सूक्त कथन करता है कि यम ब्रत धारण करने से जिससे राजा महाराजा सब कांपते हैं वह यदि गिर जाता है तो उसकी अत्यन्त अधोगति हो जाती है एवं उक्त ब्रत की दृढ़ता के लिये यम यमी सूक्त है जिसको विगाड़कर सायणादि आधुनिक भाष्यकारों ने भाई बहन की कथा वर्णन करके वेदोंका महत्व नष्ट करादिया, इस निम्नलिखित दशवें मंत्र के सायणादि भाष्यकार यह अर्थ करते हैं कि उत्तर युग आयंगे जिनमें बहनें भाइयों को पति बनालेंगी, यह अर्थ करके और भी अनर्थ करादिया।

पं०ज्वालाप्रसादमिश्र ने स्वामीजीकृत नियोग के अर्थों का खण्डन करते हुए इस मंत्रके अर्थ और भी विगाड़ दिये हैं कि (यमी कहती है यम से हम दोनों समागम करें) यम इस मंत्र से उत्तर देता है कि हे यमी वे उत्तर युग आवेंगे जिन युगों में (जामयः) भगनियां (अजामिकृण्वन्) भगिनी से भिन्न सम्बन्धित कर्मों को करेंगी, भाव यह है कि कलियुगान्त मेंही यह संकरता होगा जिसकाल में भगिनी से भिन्नस्त्री योग्यकर्मों को भगिनिये करें गी।

समीक्षा—पण्डित साहिबने वैदिक अर्थों से लाभ उठाने का उपाय तो कलियुग में अच्छा सोचा, पर यह नहीं सोचा कि जब कलियुग में यह विधि हो जावेगी तो अगम्या गमन का विचार कैसे रहेगा, सच है इनको क्या? इनको तो विधवा विवाह व नियोग से द्वेष है और कोई कितना ही बड़ा अनर्थ क्यों न हो इनको नहीं दुखता, अन्यथा यम यमी सूक्त में भाई बहन के उक्तार्थ

कास्वीकार निरुक्त में भाई बहन विषयक इस कथा के लापनका स्वीकार इत्यादि अनुचित सब बातों का स्वीकार और "अन्य मिच्छस्वसुभगेपतिंमत्" इस प्रतीक में नियोगार्थ का अस्वीकार क्यों ?

आघाता गच्छानुत्तरा युगानि यत्रजामयः कृणव न्नजामि । उपबर्बृहि वृषभाय बाहुमन्य मिच्छस्व सुभगे पतिंमत् ॥ १० ॥

अर्थ—यम कहता है कि हे यमी (आगच्छानुत्तरायुगानि) नाम उत्तर युग आयेंगे जिनमें (जामयः) नाम कुलीन स्त्रियें (अजामि) नाम अकुलीन स्त्रियों का काम करेंगी अर्थात् उत्तर युगों में (यम व्रतधारी) नाम ब्रह्मचारी तथा यती लोगों को स्त्रियें मोहित कर लेंगी, इस समय ऐसा नहीं हो सक्ता, इस लिये "अन्यमिच्छस्व सुभगेपतिंमत्" ब्रह्मचारी कहता है कि हें सुभगे मेरे से भिन्न अन्य पति की इच्छा कर ॥

स्वामी जी का अर्थ इस लिये युक्त है कि यह उपलक्षण है अर्थात् जैसे ब्रह्मचारी वा यती यम नियम सम्पन्न होने से यह कहता है कि "अन्यमिच्छस्वसुभगे पतिंमत्" इस प्रकार सामर्थ्य रहित क्लीव भी यह कहता है कि "अन्यमिच्छस्वसुभगे पतिंमत्"

जैसेकि :—

मृतेनष्टे परिव्रजिते क्लीवेच पतिते पतौ । पञ्चस्वा

पत्सुनारीणां पतिरन्यो विधीयते । प०स्मृ० ४। ३०

जो लोग इस श्लोक में पतौ इस सप्तमी के अर्थ फेरना चाहते हैं वह पराशर माधव अपने सनातन टीका को पढ़ें और इस में शेखरकार का समाधान भी पढ़ें ॥

यह पराशर स्मृति का कथन है इसमें पति के क्लीव होने पर नियोग का विधान किया गया है, इस लिये स्वामी जीके लेख में कोई प्रकरण विरोध नहीं । उपलक्षण की रीति से इस दशम मंत्र में नियोग विषय में क्लीव का भी ग्रहण हो सक्ता है इस लिये कोई दोष नहीं ॥

और जो जामि शब्द के अर्थ सायणाचार्य्य और आधुनिक सनातनी भगिनी के करते हैं यह सर्वथा वेदाशय से विरुद्ध है, क्योंकि उणादिगण में या प्रापणे से इस शब्द की सिद्धि की गई है "यातीति जामि" जो प्राप्त हो उसका नाम जामि है आदि जो य है उसको जकार हो जाता है और मि प्रत्यय हो जाता है, और उक्त कथा में यम ब्रह्मचारी को प्राप्त होने से उस स्त्री का नाम "जामि" कहा गया, यदि सनातनी लोग यहां योग्यता का ध्यान रखते तो भाई बहन के अर्थ कदापि न करते, क्योंकि योग्यता बल से सैंधवमानय इत्यादिवत् उसी का ग्रहण होता है जिसकी योग्यता पाई जाती है जैसे कि भोजन काल में कोई सैंधवमानय कहता है तो नमक का ग्रहण होता है और प्रस्थान के लिये कटिबद्ध होकर सैंधवमानय कहता है तो घोड़े का ग्रहण होता है, इसी प्रकार उनके अमरकोष के कथनानुकूल यदि जामि

के अर्थ भगिनी और कुलस्त्री दोनों के माने जायें तब भी योग्यता बल से यहां कुल स्त्री का ही ग्रहण होता है भगिनी का नहीं। इस प्रकार मीमांसा करने से इस सूक्त में भगिनी का बाधक कोई शब्द नहीं पाया जाता। और जो पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र यह लिखता है कि निरुक्त में भी जामिके अर्थ भगिनी के किये गए हैं यह बात निरुक्त को न समझकर कथनकीगई है निरुक्त यह है।

आगमिष्यन्ति तान्युत्तराणि युगानि यत्र जामयः करिष्यन्त्यजामि कर्माणि। जाम्यतिरेक नाम वालिशस्य वा समान जातीयस्य वोपजनः। उप धेहि वृषभायवाहुमिच्छस्व सुभगे पतिंमदिति व्याख्यातम्॥ निरुक्त नैगमकाण्ड अं०४ पा०३ खं०४।

अर्थ—उत्तर युग आयंगे जिनमें (जामयः) कुलीन स्त्रियें (अ-जामि कर्माणि) नाम अकुलीन स्त्रियों के कर्मों को करेंगी। और जामि मूर्खकाभी नाम है। यम कहता है कि हे यमी-कुलस्त्री तू (समान जातीयस्य पुंसः) नाम समान जातीवाले पुरुष के उपजने नाम समीप में स्थिति को धारण कर अर्थात् तेरे जैसे बल वीर्य्य वाला जो समान जातीय पुरुष है उसको तू प्राप्त हो। जाति नाम सामान्य का है और "समानानांभावः सामान्यं" समानो का जो गुणकर्म हो उसका नाम यहां जाति है। इसलिये यम ब्रह्म-चारी ने यह कहा कि समान जाति वाले अर्थात् जो तुम्हारी तरह ब्रह्मचर्य्य ब्रतभङ्ग करना चाहता हो उसको जाकर प्राप्त हो।

और इसी प्रकार क्लीबभी यह कहसक्ता है कि तू अन्य पुरुष को प्राप्त हो, इसलिये यह कहा "अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्" इस निरुक्त के लेख से भाई बहनके नाम का गन्धमात्र भी नहीं पाया जाता, फिर न जाने हमारे सनातन भाईयों को इस अपूर्व अर्थकी सूझ किस मार्ग से सूझी।

ननु तुम कहते हो कि इस में सहोदर भाई बहन की कथा का गन्धमात्र नहीं तो फिर मंत्र ११ में भ्राता और स्वसा शब्द क्यों आए हैं?

समाधान—भ्राता और स्वसा शब्द वहां आरोपित भ्रातृ भगिनीभाव के अभिप्राय से आए हैं, और इस आरोपित भ्रातृ भगिनी भाव में अगम्यागमन के दोष को दर्शाने के अभिप्राय से ईश्वर ने इस सूक्तमें ११ मंत्र से १४ मंत्रतक लिखा है।

किंभ्राताऽसद्यदनाथं भवाति किमुस्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात्। काममूताबह्वे तद्रपामि तन्वा मे तन्वं संपिपृग्धि॥ ११॥

अर्थ-यमी फिर बोली तुमने जो भगिनी भाव आरोप करके मुझे छोड़ दिया है, वह क्या भाई है जिसके होने पर बहन अनाथा होती है और वह क्या बहन है जिसके होने पर भाई दुखी हो, इस लिये तुम मुझ से सम्बन्ध करो॥

नवाउतेतन्वा तन्वं संपपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्। अन्येनमत्प्रमुदः कल्पयस्व न ते

भ्राता सुभगे वष्टचेतत् ॥ १२ ॥

अर्थ–यम यमी को बोला कि हे यमी मैं तुम्हारे शरीर के साथ सम्बन्ध नहीं करता, क्योंकि मैं तुमको भगिनी कह चुका, जो भाई बहन के साथ संग करता है उसको शिष्ट लोग महापापी कहते हैं, इस लिये हे यमी तुम अन्य की इच्छा करो ॥

वतो वतासियमनैवते मनो हृदयं चाविदाम। अन्याकिलत्वां कक्ष्येव युक्तं परिष्वजाते लिबुजेववृक्षम् ॥ १३ ॥

अर्थ–यमी यम को बोली हे यम (वतो) नाम तुम बड़े दुर्बल हो, (वत) नाम बड़ा खेद है जो तू मेरी इच्छा नहीं करता, ज्ञात होता है कि तुम किसी और बन्धन से युक्त हो, जैसे कि घोड़ा अपनी रासों से बंधा हुआ होता है वा वृक्ष किसी लता के बंधन से बंधा हुआ होता है ॥

अन्यमूषुत्वं यम्यन्य उत्वां परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्। तस्यवा त्वं मन इच्छासवात वाधा कृणुष्वसंविदं सुभद्राम् ॥ १४ ॥

अर्थ–यम यह बोला कि हे यमी तू (अन्यं उ) नाम अन्य पुरुष को (परिष्वज) मिल और अन्य पुरुष तुमको (परिष्वजाते) मिले, दृष्टान्त यह है कि जैसे लिबुजा नाम लता वृक्ष से संग करती है इस प्रकार तू अन्य पुरुष का संग कर और उसके मन को वशीभूत करने की तू इच्छा कर, और वह तुम्हारे मन को

वशीभूत करने की इच्छा करे इससे तू (सुभद्राम्) नाम कल्याण को अनुभव कर। इस प्रकार यम ब्रतधारी यम ने उसके प्रलोभन कर्तृ यमी स्त्री को यह उत्तर दिया ॥

इस सूक्त पर प्रति पक्षी लोग बहुत आक्षेप किया करते हैं पर हमारे विचार में इस प्रकार मीमांसा करने से इस में कोई दोष नहीं आता ॥

इति नियोग विषयः

(४८) "स्तुति" जिसमें गुणों का कीर्तन किया जाता है वह स्तुति कहलाती है। इस में यथावस्थित गुणों का कीर्तन किया जाता है, इस का फल गुणी में प्रेम की दृढ़ता है। इस वैदिक मन्तव्य में पौराणिक स्तुति से भेद यह है कि इस में यथावत् गुणों की स्तुति की जाती है न कि पौराणिक स्तोत्रों के सम असम्भव गुणों की ॥

वैदिक मंत्र इस विषय में निम्न लिखित हैं:—

विष्णोनुकं प्रावोचं वीर्याणि यः पार्थिवानिविममे रजांसि। यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमा णस्त्रेधोरुगायः॥ अथर्व० ७।३।१।

अर्थ-(विष्णो) नाम व्यापक परमेश्वर के (नु) शीघ्र (वीर्याणि प्रावोचं) नाम बलों को कथन करता हूं (यः पार्थिवानि विममे) नाम जिस विष्णु परमात्मा ने पर्थिव द्रव्या को बनाया है, और (रजांसि) नाम रजोगुण सम्बन्धि लोक को बनाया है और (अस्कभायत) नाम जो सब को स्वाश्रित करता है वह विष्णु

(विचक्रमाणस्त्रेधा) नाम तीन प्रकार से गति करता हुआ, अर्थात् जगत् की उत्पत्ति स्थिति प्रलय रूप गति करता हुआ (उर्गायः) महात्मा लोगों से स्तुति किया जाता है। उस विष्णु के वीर्यों को मैं कथन करता हूं॥

प्रतद् विष्णु स्तवते वीर्य्याणि मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आ जगम्यात् परस्याः॥ २
यस्योरुषत्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा। उरु विष्णो विक्रमस्वोरुक्षायाय नस्कृधि घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर॥ ३॥

अर्थ—(प्रतद्विष्णुः) इस मंत्रका भाव आर्य्यमन्तव्यप्रकाश के तृतीय समुल्लास में लिखागया है, पर इस अथर्व के मन्त्र के उत्तरार्द्ध में भेद हैं इसलिये हम फिर व्याख्या करते हैं।

(प्रतद् विष्णुः) नाम वह विष्णु यहां वैदिक होनेसे लिङ्ग का वित्यय है अर्थात् "सविष्णु" के स्थान में "तद् विष्णु" है। (प्रस्तवते) नाम स्तुति किया जाता है वह विष्णु (मृगः) नाम सिंहः है पर (न भीमः) नाम भयानक सिंह नहीं, अर्थात् "सिंहो माणवकः" के समान उसको उपचार से सिंह कहा गया है, (कुचरः) पृथिवी में विचरता हुआ (गरिष्ठाः) गिरिके शिखर परभी स्थिर है अर्थात् सर्वव्यापक होने के कारण उसके पृथिवी में रहने और पर्वत शिखरमें रहने का निरोध नहीं आता। और वह विष्णु (परस्याःपरावत) नाम दूरसे दूर देशसेभी (आजगम्यात्)

नाम हमारे पास आता है। अर्थात् सर्व व्यापक होनेसे उसमें देशकृत परिच्छेद नहीं। जिस विष्णु के (त्रिषुविक्रमणेषु) नाम उत्पत्ति स्थिति प्रलय का हेतु जो शक्ति उसमें सम्पूर्ण भुवन स्थिर हैं। और फिर वह कैसा है जो पृथिवी, अन्तरिक्ष, और द्यौ लोक में अपनी (पाद) नाम स्वरूपभूत शक्ति को स्व सत्ता से दृढ़ रखता है, फिर वह विष्णु कैसा है कि जो (घृतयोनि) नाम दीप्ति की योनि है घृ–भासे से घृत शब्द सिद्ध होता है जिसके अर्थ दीप्ति के हैं अर्थात् वह स्वतः प्रकाश है। उससे प्रार्थना है कि हे घृत योने तू सम्पूर्ण दीप्तिवाले पदार्थों को (पिव) नाम ग्रहणकर और (प्रयज्ञपतिंतिर) नाम प्रकर्षेण यजमान को वढ़ा।

उक्त दूसरे मंत्र से आधुनिक सनातनी नृसिंहावतार निकालते हैं जिसका समाधान हम आर्य्यमन्तव्यप्रकाश के द्वितीय और तृतीय समुल्लास में कर आए हैं। यहां इतना और लिखते हैं कि इसके सायण में नृसिंहावतार का गन्धमात्र भी नहीं।

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधेपदा। समूढमस्य पांसुरे ॥ ४ ॥

अर्थ—(विष्णुः) व्यापक परमेश्वर ने (इदंविचक्रमे) नाम इस विश्वको वनाया और (त्रेधानिदधेपदा) नाम तीन प्रकार से इस प्राप्तप्रकृति को रक्खा अर्थात् परमात्माका साधनरूप जो यह प्रकृति है इसको तीन प्रकार से रक्खा। पृथिवीरूपसे, अन्तरिक्षरूपसे, और द्यौरूपसे। (समूढमस्यपांसुरे) नाम इसके स्वरूप में यह सम्पूर्ण विश्व स्थिर है।

यह मंत्र यजुर्वेद में भी आया है महीधर इसके वावनावतारके अर्थ करते हैं, यहां स्तुति विषय में यह दुवारा इस अभिप्राय से लिखागया है कि स्तुतिविधायक पूर्वोक्त तीन मंत्रों में इसकी सङ्गति तभी रहती है जब यह निराकार का प्रतिपादक मानाजाय। यजुर्वेद और अथर्ववेद में भेद इतना है कि वहां "त्रेधानिदधे पदम्" है और यहां "त्रेधा निदधे पदा" है जिसके अर्थ प्रकृति के स्पष्टरीति से हो सकते हैं, यदि पद के अर्थ पैर भी माने जायें तबभी विष्णुके पदके अर्थ विष्णु के स्वरूप के होते हैं। जैसा कि निर्विशेषवादी मधुसूदन स्वामी ने संक्षेप शारीरक की टीकामें यह लिखा है :—

पदत्वं चाविद्यातिरोधानापनयनाय सर्वपद नीयत्वेन स्वरूपस्य द्रष्टव्यं। तद्विष्णोः परमं पदमिति श्रुतेः।

अर्थ—(पद) नाम विष्णु के स्वरूप का है क्योंकि अविद्या रूपी जो तिमिर उसके दूर करनेवाला व्यापक परमात्मा का स्वरूपही हो सक्ता है अथवा सब लोगों का प्राप्य होने से विष्णु के स्वरूप को पद कहागया है और यह बात "तद्विष्णोपरमं पदम्" इस श्रुति में प्रसिद्ध है। इस प्रकार पद नाम विष्णु के स्वरूप का होसक्ता है। यदि कोई यह प्रश्न करे कि उस स्वरूप को उसने तीन प्रकार से कैसे रखा ? तो इसका उत्तर यह है कि पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, इसलोक त्रय में व्यापक होनेके अभिप्राय से उसमें तीन प्रकार से रखना उपचार से कथन किया गया है

अथवा "तद्विष्णोःपरमंपदम्" इस मंत्र मे पद शब्द के अर्थ योग्यता के बलसे स्वरूप के हैं और "त्रेधानिदधेपदम्" यहां योग्यता के बल से प्रकृति के हैं ।

त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। इतो धर्माणि धारयन् ॥ ५ ॥

अर्थ—(विष्णुर्गोपा) नाम रक्षा करनेवाला विष्णु (त्रीणिपदा विचक्रम) नाम तीन प्रकार से संसार की उसने स्थिति की और इस से सब धर्मों को स्थिर किया ।

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ६ ॥

अर्थ-हे उपासको तुम (विष्णोः) व्यापक परमात्मा के (कर्माणि) नाम गति रूप क्रियाओं को (पश्यत) नाम देखो (यतो) नाम जिन कर्मो से वह परमात्मा (व्रतानि) नाम तुम्हारे कर्तव्यों को (पस्पशे) नाम बांधता है अर्थात् स्थिर करता है, फिर वह परमेश्वर कैसा है (इन्द्रस्ययुज्यः सखा) नाम प्रजा पालनकर्ता राजा का योग्य सखा है अर्थात् जो धर्म पूर्वक प्रजा पालन करता है उसको सहायता देता है ॥

तद्विष्णोः परमंपदं सदापश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम् ॥ ७ ॥

अर्थ-(तद्विष्णोः) नाम पूर्वोक्त व्यापक परमात्मा के (परमंपदं) नाम स्वरूप को (सदा पश्यन्ति सूरयः) सदा बुद्धिमान लोग